प्रो० विश्वंभर 'अरुण'
रीति राग
R·P·S
097
ARY—R
अभिनव प्रकाशन, आगरा -२

रीति-राग

[पाँच प्रमुख रीति-स्वच्छन्द कवियों की प्रतिनिधि कविताओं का संकलन]

लेखक
विश्वम्भर 'अरुण'
आगरा कॉलेज, आगरा
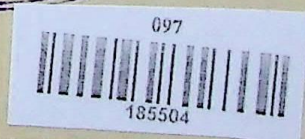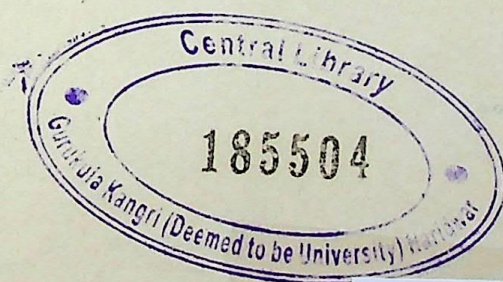
अभिनव प्रकाशन, आगरा-२

रीति-राग
सम्पादक : विश्वम्भर 'अरुण'

प्रकाशक :
सुरेशचन्द्र गुप्ता
अभिनव प्रकाशन
१४/२५६, मण्डी सईद खाँ, आगरा-२८२००२

द्वितीय संस्करण : १९८२

मूल्य : ५·००

मुद्रक :
श्री दुर्गा शक्ति प्रिंटिंग प्रेस,
नौबस्ता, लोहामण्डी, आगरा-२

अनुक्रम

भूमिका

संकलन

रीति-स्वच्छन्द काव्य

परिवेश : प्रवृत्तियाँ

हिन्दी साहित्य के इतिहास में मध्यकाल को भी दो भागों में विभाजित करने का सार्थक प्रयास किया गया—पूर्व मध्यकाल और उत्तर मध्यकाल। पूर्व मध्यकाल को भक्तिकाल के नाम से अभिहित किया गया और उत्तर मध्यकाल को रीतिकाल अथवा शृंगार काल नाम दिया गया। पूर्व मध्यकालिक कवि अधिकांशतः अपने-अपने भक्ति सिद्धान्तों के उद्घोषक या गायक रहे, अतः उनका बहुत-सा काव्य शुद्ध साहित्य में रखना विवादास्पद हो सकता है किन्तु उत्तर मध्यकाल में रचित अधिकांश काव्य को शुद्ध साहित्य में सहज ही रखा जा सकता है। हिन्दी साहित्य के सुधी समीक्षक आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र की सम्मति इस सम्बन्ध में विशेष रूप से ध्यातव्य है— "सच पूछा जाय तो शुद्ध साहित्य की दृष्टि से निर्माण करने वाले कर्त्ता इस युग में जितने अधिक हुए, हिन्दी साहित्य के सहस्त्र वर्षों के दीर्घकालीन जीवन में उतने अधिक कर्त्ता शुद्ध साहित्य की दृष्टि से निर्माण करने वाले कभी नहीं हुए। आधुनिक काल में भी नहीं।········कहने का तात्पर्य यह है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास में अन्य कालों में शुद्ध साहित्य की दृष्टि से काव्य का निर्माण करने वालों की संख्या रीतिकाल में इसी दृष्टि से काव्य का निर्माण करने वालों की संख्या की अपेक्षा निश्चय ही न्यून से न्यूनतर है। एक ही युग में एक से एक उत्तम कर्त्ता संख्या में सबसे अधिक इसी उत्तर मध्यकाल या रीतिकाल में हुए। हिन्दी का सच्चा साहित्य युग यदि कोई था तो वस्तुतः यही था।"

इस उत्तर मध्यकालिक काव्य में तीन धाराएँ दृष्टिगत हुईं—एक भक्ति की, दूसरी रीति की और तीसरी थी स्वच्छन्द वृत्ति की। भक्ति को लक्ष्य मानकर कविता करने वालों के लिए कविता-कर्म येन-केन-प्रकारेण गौण-सा हो गया था और दूसरी धारा के कवि कथ्य पर कम उसकी अभिव्यक्ति-पद्धति पर विशेष बल दे रहे थे। परन्तु तीसरी धारा के कवि ही ऐसे थे जो सही मायनों में कविता कर रहे थे। असल मे ये कवि कविता के मर्म और उसके धर्म के बखूबी जानकार थे और इसीलिए इनकी कविता बिना किसी राज्याश्रय या आन्दोलन के सहृदयों को प्रभावित करने में समर्थ हो सकी थी। इस धारा के कवियों को कुछ विद्वानों ने रीति-मुक्त नाम दिया तो अन्य ने उन्हें स्वच्छन्द वृत्ति का कवि घोषित किया। बन्धनों की बिना परवाह किये ये कवि अपने मन की रीति-नीति की परवाह अवश्य करते थे। मन की

गहराइयों को माप लेने वाले ये कवि इसीलिए पाठकों के मर्म को आन्दोलित कर पा सकने में सहज ही समर्थ सिद्ध हुए थे।

स्वच्छन्द वृत्ति के ये कवि भक्ति-कालीन संध्या-समय से लेकर रीतिकालीन सांध्य बेला और आधुनिक काव्य के अरुणोदय काल तक अपनी-अपनी आभा विकीर्ण करते लक्षित होते हैं। भक्तिकालीन सीमा में रसखान और आलम इस वृत्ति के कमनीय कवि हैं। रीतिकाल में घनानन्द, ठाकुर, बोधा हैं और आधुनिक काल की आहट को पहचानने में बख्शी हंसराज, द्विजदेव आदि पूर्णतया सक्षम हैं। कविता के असल राग को पहचानने में समर्थ ये सभी कवि बिना किसी काव्य-पंथ अथवा धर्म-सम्प्रदाय की वैशाखी लिए पाठकों को उसका प्राप्तव्य बखूबी दे देते हैं। बिना किसी जोड़-तोड़ के ये कवि अपने पाठकों को वह काव्यास्वाद्य प्रदान कर देते हैं जो अन्य कवियों में ऐसा सुलभ नहीं है। ये सभी राग के कवि हैं, वह राग जो एक से औरों को मधुरता-सहजता से बाँध लेता है और जिसके लिए किसी रीति-नीति की अपेक्षा नहीं होती परन्तु जो स्वयं में एक रीति या नीति बनकर जन्मता है।

वैसे तो उत्तर मध्यकालिक कवियों पर 'रीति' या 'पंथ' के प्रति विशेष मोह था तभी तो आचार्य शुक्ल ने सर्वव्यापी इस प्रवृत्ति को लक्षित करके इसे 'रीतिकाल' के नाम से अभिहित किया था। रीतिकाल के रीति-मुक्त अथवा रीति-स्वच्छन्द ये सभी कवि रीति से सर्वथा अपने को मुक्त भी नहीं रख पाये थे। किन्तु ये सभी कवि रीति के प्रति आग्रही भी कभी नहीं रहे। हाँ, अप्रत्यक्ष रूप से अपने आस-पास के परिवेश से प्रभावित अवश्य हुए। यही कारण है कि इन रीति-मुक्त कवियों की कविता में काव्य-शिल्प की समझदारी और पच्चीकारी की पहचान मिल जाती है और इसी से इनकी कविताओं को निखार की निधि भी मिल सकी है। कहा जा सकता है कि ये सभी कवि 'रीति' से सर्वथा विरागी नहीं हैं—एक हद तक रागी हैं। रीति के प्रति इन कवियों का यह राग उनकी कविता को हलके से अलंकारों की झमक दे गया है तो दूसरी ओर शब्दों की रुनझुन और छन्दों की सुघड़ झंकार भी उपहार में दे सका है।

रीति से अनुप्राणित कवियों में भी दो प्रकार के कवि परिलक्षित हुए—एक वे जो पूर्णतः रीति से बँधे थे और दूसरे वे जो रीति से बँधे होने पर भी कुछ अलगाव रखे थे। पहले प्रकार के कवियों को रीतिबद्ध कहा गया और दूसरे प्रकार के कवियों को रीतिसिद्ध नाम दिया गया। रीतिबद्ध में केशव, देव, मतिराम आदि कवि प्रमुख हैं तो रीति सिद्ध में बिहारी, रसनिधि आदि। रीतिबद्ध कवियों ने अपना काव्य-वर्चस्व बनाये रखने के लिए अनथक और अनेक प्रयास किये और उसमें किसी हद तक सफल भी रहे। रीतिबद्ध कवियों के जीवन में अनुभूति की अपेक्षा कला का प्राधान्य रहा। जीवनयापन की विधि एवं काव्य दोनों में ही ये कवि कलाकारिता को अधिक महत्व देते थे। कला में भी ये परम्पराबद्धता को प्रश्रय देते थे और उसी में पांडित्य और पटुता प्रदर्शित करते थे। डा० जगदीश गुप्त के शब्दों में, "रीति

कवि अधिकतर एक सीमित क्षेत्र में ही अपनी प्रतिभा के प्रदर्शन का अभ्यासी हो गया। किन्हीं नये व्यापक क्षेत्रों के द्वार खोलने या स्वप्नदर्शी होने की सम्भाव्यता उसमें नहीं थी।'' रीतिबद्ध कवियों ने भले ही अपने को सीमित रखा हो किन्तु यह मानना होगा कि कविता को कविता के रंग-ढंग से लिखने या सुनाने का वातावरण अवश्य बन गया था। अब कविता को कविता के लिए लिखा जाने लगा और कविता करने से पूर्व कविता करने की कला को समझना-बूझना आवश्यक समझा जाने लगा। कवियों में कवि-कर्म के प्रति उत्साह जगा।

अतः, इस बात से नकारा नहीं जा सकता कि रीति-ग्रन्थों के प्रणयन से साहित्य के परवर्ती कवियों को कवि-कर्म की समझ और सूझ मिली। रीतिबद्ध ग्रन्थ-कारों में जहाँ तक कवित्व की बात है उसमें केशव, देव, मतिराम आदि महत्वपूर्ण हैं। यही कारण है कि इनके लक्षण ग्रन्थों में भी कवित्वमयी वाणी का श्रवण होता है। अन्य रीतिबद्ध कवियों में एक प्रकार से कवित्व की उलझन दीख पड़ती है। इसका कारण कवित्व और आचार्यत्व का असामंजस्य है। देव में इन दोनों तत्वों का समाहार दिखाई पड़ता है। शृंगारिकता—जो कि रीतिकाल की प्रमुख विशेषता मानी जाती है तथा सौन्दर्य-चित्रण जो कि इसका पूरक है, इन कवियों के वर्णनों में उनकी दृष्टि उसके अन्तस् तक नहीं पैठ पाई है। फलतः इस कोटि के कवियों का बाह्य चित्रण ही प्रधान रह गया है और उसमें चटक-मटक लाने के लिए अलंकारों का प्रयोग तो धड़ल्ले से हुआ है।

इस काल के दूसरे ढर्रे के कवियों ने काव्यशास्त्र के ग्रन्थों की रचना तो नहीं की, किन्तु उनका लक्ष्य उसी ओर अवश्य रहा। इसके अन्तर्गत बिहारी, रसनिधि आदि कवि आते हैं। 'बिहारी सतसई' में लक्षण ग्रन्थों में निरूपित सिद्धान्तों के भरपूर उदाहरण मिलते हैं यद्यपि यह लक्षण ग्रन्थ नहीं है। स्पष्ट है कि इनका लक्ष्य रीतिग्रन्थ की ओर से एकदम विमुख नहीं रहा है। इसीलिये इन्हें रीतिसिद्ध कवि कहा जाता है। इसी प्रकार लक्षण के अभाव में भी रीति की ओर उन्मुख कवियों को रीतिसिद्ध कवियों की श्रेणी में रखा जाता है। इन कवियों की मुख्य विशेषता अभिव्यक्ति-विधान है। जहाँ ये एक ओर तो रीति की ओर नजर गड़ाये दीख पड़ते हैं वहाँ दूसरी ओर भावों की अभिव्यक्ति देने में पूर्णतः स्वतन्त्र दीख पड़ते हैं। यद्यपि इनमें भी रीतिबद्ध कवियों जैसी चटक-मटक या बाह्य चित्रण का अभाव नहीं है फिर भी उक्ति वैचित्र्य पिटी-पिटाई लीक से दूर है और उनमें आन्तरिकता का समा-वेश भी है। जहाँ तक शृंगारिकता की बात है, इनके काव्य में भी घोर शृंगार है पर भावों से संपृक्त होने के कारण कोरी मांसलता के नग्न चित्र मात्र ही नहीं है।

रीतिकालीन कवियों में भी एक ऐसा महत्वपूर्ण वर्ग भी था जिसके कवि न तो लक्षण ग्रन्थ की रचना करने की ओर प्रवृत्त हुए और न ही उन्होंने बिहारी जैसे बीच की स्थिति को बनाये रखना पसन्द किया। इन कवियों की एक अलग ही

पहचान है। इन्हें स्वच्छन्द कवि की संज्ञा भी दी गई है। इन कवियों में रसखान, आलम, घनानन्द, ठाकुर, बोधा, बख्शी हसराज, द्विजदेव आदि कवि आते हैं। इस काव्यधारा की प्रमुख रचनाएँ रसखान कृत 'सुजान रसखानि' एवं 'प्रेमवाटिका', आलम कृत 'माधवानल कामकंदला', 'सुदामा चरित', 'श्याम सनेही' और 'आलम-केलि', घनानन्द कृत 'सुजानहित', 'कृपाकद', 'वियोगबेलि', 'प्रेम-पद्धति', 'भावना प्रकाश' आदि, बोधा कृत 'इश्कनामा', 'बारहमासा', 'बिरही सुभान—दम्पत्ति-विलास' आदि, ठाकुर का 'ठाकुर-ठसक', 'ठाकुर-शतक', बख्शी हसराज कृत 'सनेह सागर' और द्विजदेव कृत 'श्रृंगार बत्तीसी' और 'श्रृंगार लतिका' उल्लेखनीय हैं।

रीतिमुक्त कवियों का काव्य रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध कवियों के काव्य से सर्वथा भिन्न है। यद्यपि इन कवियों का भी मुख्य वर्ण्य विषय श्रृंगार है किन्तु उसमें प्रेम का स्वरूप उदात्त और उन्मुक्त है। इनकी श्रृगारिक कविताएँ भावना प्रधान हैं—मात्र नग्न चित्र-प्रदर्शन नहीं। इन कबियों की बड़ी विशेषता तो यह है कि इन्होंने स्वानुभूत प्रेम और उसकी पीड़ा को अपने काव्यों में अभिव्यक्ति प्रदान की है। वैयक्तिकता इन कवियो का सर्वप्रथम गुण है। तभी तो घनानन्द ने कहा है—

लोग हैं लागि कवित्त बनावत, मोहि तो मेरे कवित्त बनावत।

कवि ठाकुर के शब्दो में भी रीतिबद्ध कवियों पर एक चुभता हुआ व्यंग्य द्रष्टव्य है—

सीखि लीन्हों मीन मृग खजन कमल नैन,
सीखि लीन्हो जस औ प्रताप को कहानो है।
सीखि लीन्हों कल्पवृक्ष कामधेनु चिंतामनि,
सीखि लीन्हो मेरु औ कुबेर गिरि आनो है।
....

डेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कवित्त कीबों खेल करि जानो है॥

विरह की प्रधानता जैसी इन कवियों में मिलती है उसके शतांश का भी दर्शन रीतिबद्ध कबियों में नहीं पाया जाता। प्रेम के इन अमर गायकों के लिए तो संयोग का क्षण भी वियोग का समां बाँधता हुआ प्रतीयमान होता है। नारी के अपरिमित सौन्दर्य मे भी इन्हें श्याम सलोने कृष्ण का रूपायित चित्र ही दीख पड़ता है। जहाँ श्रृगार में भावमयता है वहाँ भक्ति की तल्लीनता भी साथ-साथ जुड़ी हुई है। आचार्य प्रवर शुक्ल जैसे विद्वान ने इन समर्थ कवियों को फुटकर खाते में डालकर इनकी आत्मा की निर्बंध वाणी की पहचान में भूल ही की है। बहुतेरे विज्ञ समीक्षकों ने रीतिकाल को वासना का काव्य माना, वे भी इन रीति-स्वच्छद कवियों की काव्य-सम्पदा से सम्भवतः दूर ही रहे। काव्य की सरसता और सुमधुरता म रीति-स्वच्छंद कवि अपनी समानता नहीं रखते।

वैसे तो कवि का स्वच्छन्द प्रवृत्ति का होना अनिवार्य है, अन्यथा वह सत्साहित्य का सृजन ही नहीं कर सकेगा। कहा भी जाता है—निरंकुश: कवि। किन्तु स्वच्छन्द धारा के रूप में काव्य का अध्ययन सम्भवत: यूरोप की रोमांटिसिज्म के प्रभाव के रूप में हमारे यहाँ प्रारम्भ हुआ और हम भी उनकी देखा-देखी उनकी दो काव्य-धाराओं—क्लासीकल एवं रोमांटिक काव्य धारा के अनुरूप अपने यहाँ रीति-बद्ध एवं स्वच्छन्द काव्य धारा का मूल्यांकन करने लगे। 'स्वच्छन्द धारा' का प्रयोग आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में किया है। जहाँ उन्होंने आधुनिक युग की नई धारा को चार विभागों में विभक्त कर अन्तिम धारा को स्वच्छन्द धारा के नाम से पुकारा है। निःसंदेह उन्होंने इस धारा का नामकरण पश्चिम की रोमांटिक काव्यधारा के अनुरूप किया है और इसको उससे प्रभावित भी बताया है, किन्तु यह काव्यधारा पूर्णतया पश्चिम से प्रभावित रही है, ऐसा मानना भी समीचीन नहीं है। आचार्य शुक्लजी ने श्रीधर पाठक को इस धारा का प्रवर्तक कवि माना है और माखनलाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', हरिवंशराय 'बच्चन', रामधारीसिंह दिनकर, ठाकुर गुरुभक्त सिंह, उदयशंकर भट्ट आदि को इस धारा में रखा है। काव्य की किसी रीति एवं नियम को न मानकर चलने वाले इन स्वच्छन्द कवियों में घनानन्द, रसखान, आलम, बोधा, ठाकुर, द्विजदेव आदि के नाम शीर्ष पर आते हैं।

स्वच्छन्द धारा के कवियों का साध्य भी काव्य रहा और साधन भी काव्य ही रहा है। काव्य का साध्य उसका अन्तरंग पक्ष होता है और उसका साधन बहिरंग पक्ष। किन्तु इन कवियों का ध्यान साधन की अपेक्षा साध्य की ओर अधिक रहा है। साधन साध्य से अलग नहीं है अतः साध्य पर लक्ष्य केन्द्रित रहने के कारण वे साधन को भी थामे रह सके हैं और अगर वे साधन को प्रधानता देते तो शायद साधन में उलझकर साध्य से दूर भी रह जाते। रीतिकालीन साहित्य में जहाँ बौद्धिकता की प्रधानता के कारण अनुभूति पक्ष का अभाव दृष्टिगत होता है और काव्य को नीरस बनाता प्रतीत होता है, वहाँ रीतिकालीन रीति-मुक्त कवियों (स्वच्छन्द काव्यधारा के कवियों) की वाणी में अनुभूति की गहराई स्पष्ट दृष्टिगत होती है। बुद्धि अनुभूति की चेरी बनकर सहायक बनती प्रतीत होती है, वह अनुभूति को संचालित नहीं करती। घनानन्द के शब्दों में—

"रीझि सुजान सची पटरानी बची बुधि बावरी ह्वै करि दासी।"

पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी के शब्दों में—"स्वच्छन्द काव्य भावभावित होता है, बुद्धि-बोधित नहीं, इसलिए आन्तरिकता उसका सर्वोपरि गुण है। आन्तरिकता की इस प्रवृत्ति के कारण स्वच्छन्द काव्य की सारी साधन-सम्पत्ति शासित रहती है और यही वह दृष्टि है जिसके द्वारा इन कर्ताओं की रचना के मूल उत्स तक पहुँचा जा सकता है।

स्वच्छन्द वृत्ति के इन कवियों की मूल संवेदना प्रेम थी। प्रेम-पीर के पारखी ये कवि काव्य-परम्परा या काव्य-परिवेश की विशेष परवाह न करके अपने भावलोक में ही साँस लेते थे और उसी स्तर पर रहकर काव्य-सृजन भी करते थे। यह बात दूसरी है कि उनकी प्रणय-संवेदना में कहीं तो सूफी कवियों जैसी रहस्यानुभूति झलक जाये या कहीं कृष्ण कवियों जैसी युगल प्रेम की भावना। पर सही स्थिति यही है कि ये अपने मौज के कवि थे। सही तौर पर स्वच्छन्द वृत्ति के ये कवि अनुभूति में खरे थे, अभिव्यक्ति में सच्चे थे और परिवेश एवं परम्परा के प्रति बेपरवाह थे। अनुभूति का खरापन और अभिव्यक्ति की सहजता में ये कबीर जैसे भी प्रतीत होते हैं पर बहुत कुछ उससे पृथक भी हैं। ये अपने-अपने प्रेम-संसार के बिहारी हैं— समाज की समस्याओं से इन्हें वास्ता नहीं। और, कबीर तो समाज की पीड़ा समेटे हुए अपने को उसी में जी रहे हैं। कबीर की साधना-मार्ग की जटिलता जैसी चीज भी इन कवियों में नहीं है। अपने प्रेम की जटिलता से ही ये कवि ऐसे जकड़े हैं कि अन्य समस्याओं की ओर ध्यान जाने का अवकाश ही कहाँ ?

वैसे तो प्रेम काव्य की दृष्टि से तो सम्पूर्ण रीतिकाल ही उल्लेख्य है, किन्तु जहाँ तक शुद्ध और वैयक्तिक प्रेम के चित्रण का प्रश्न है तो यह कहा जायेगा कि स्वच्छन्द काव्यधारा के कवियों ने प्रेम का सरस और यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है। अन्य रीतिबद्ध या रीतिसिद्ध कवि तो प्रेम के नाम पर शब्दों का खिलवाड़ करके रह गये हैं अथवा उनके स्थान पर वासना को ही उभार सकने में ज्यादा सफल हुए हैं। इन स्वच्छन्दतावादी कवियों की प्रेम-भावना का विश्लेषण करते हुए ही लिखा गया है—"रीति की हल्की छाया लिए हुए भी घनानन्द, ठाकुर, बोधा आदि उससे बहुत कुछ अलग हैं, उनका अपना वैशिष्ट्य है। ये विशेषताएँ ही उन्हें रीति-बद्ध कवियों की श्रेणी से पृथक कर देती हैं। इन लोगों ने साहित्यिक परम्परा और नैतिक मूल्यों के प्रति नया दृष्टिकोण अपनाया। न तो इन लोगों ने अपने समय की परम्परा युक्त साहित्यिक परिपाटी (लिट्रेरी कन्वेन्शन्स) को अपनाया और न रीति-ग्रस्त नैतिक मूल्यों को ही स्वीकार किया। नई साहित्यिक परम्परा की स्थापना तथा नवीन मूल्यों की प्रतिष्ठा के द्वारा इन्होंने अपने युग की कतिपय आभिजात्य मान्यताओं (अरिस्टोक्रेटिक थाट्स) को बदला और नये आदर्शों को प्रतिष्ठित किया।"*

इस प्रकार इन रीति परम्परा से मुक्त इन कवियों ने न तो नायिकाभेद के प्रति अपनी कोई रुझान दिखाई है, न ही स्थूल सौन्दर्य के चित्रण या अतिशयोक्ति, ऊहा आदि का सहारा लेकर वियोग वर्णन में रुचि ली है। घनानन्द ठाकुर, बोधा आदि कवियों ने श्रृंगार के वर्णन में स्वानुभूति स्थितियों का चित्रण किया है। इसलिए उनमें सहजता, संवेदनशीलता और सच्चाई मिलती है।

---

* 'रीतिकालीन कवियों की प्रेम-व्यंजना'—डा० बच्चनसिंह।

काव्य-विधा की दृष्टि से रीतिकाल का पर्यवेक्षण करें तो इस काल में प्रबन्ध और मुक्तक दोनों प्रकार की विधायें देखने को मिलती हैं। बहुत से आलोचक इसीलिए इसे मुक्तक काल कहते हैं क्योंकि उन्हें इस काल में प्रबन्धात्मक रचनाओं का अभाव प्रायः दीखता है। पर ऐसी बात नहीं है। इस काल में भी प्रचुर मात्रा में प्रबन्धों की रचना भी हुई। भले ही आलोचक गण उन प्रबन्धों को अध्ययन-विश्लेषण के क्रम में अपने दृष्टि-पथ में न रखें। हाँ, यह बात अवश्य है कि प्रधानता मुक्तक की ही रही। इसके कई कारण हैं। एक तो रीतिबद्ध कवि लक्षण ग्रन्थ अथवा लक्ष्य ग्रन्थों में प्रणयन में लगे हुए थे और इसके लिए मुक्तक ही उपयुक्त भी है तथा दूसरे रीतिमुक्त कवि श्रृंगार अथवा भक्ति के माध्यम से अपनी स्वानुभूति प्रकाशित कर रहे थे, अतः इसके लिए मुक्तक-रचना ही यथेष्ट रही। साथ ही जन-मन-रंजन के लिए भी मुक्तक समर्थ हैं। मुक्तकों की प्रधानता का एक दूसरा मुख्य कारण तत्कालीन कवियों का राज्याश्रय में होना भी है। अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा स्फुट शब्दों में ही ज्यादा सम्भव थी। इसीलिए कवियों की दृष्टि मुक्तक काव्य रचना की ओर अधिक झुकी रही। परन्तु प्रबन्धों की रचना में भी कुछ कवियों का मन रमा हुआ था। सबलसिंह कृत 'महाभारत', छत्रसिंह कृत 'विजय मुक्तावली', गुरु गोविन्दसिंह कृत 'चण्डी-चरित्र', लाल कवि कृत 'छत्र प्रकाश', जोधराज कृत 'हम्मीर रासो', गुमान कृत 'नैषध चरित', सूदन कृत 'सुजान-चरित्र' आदि इस काल के प्रमुख प्रबन्ध काव्य हैं। इनके अतिरिक्त अनेक अन्य प्रबन्ध काव्यों की रचना इस काल में हुई है।

तत्कालीन मानव-प्रवृत्तियों को यदि हम देखना चाहें तो रीतिकालीन साहित्य के दर्पण में आसानी से देख सकते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। रीति स्वच्छन्द कवि रसखान, आलम, घनानन्द, ठाकुर, बोधा, बखशी हंसराज, द्विजदेव तो अपनी सहज-सरस कविता से सभी कालों में सहृदयों का सम्मान पाने के अधिकारी हैं। इनमें भी रसखान जैसी मधुरता, घनानन्द जैसी मार्मिकता, ठाकुर जैसी खरी अनुभूति, बोधा जैसी सहजता, बखशी हंसराज जैसी मृदुलता और द्विजदेव जैसी सजीवता अन्यत्र मिलनी कठिन ही है। ये सभी कवि रीतिकाल के विशाल काव्य-सिन्धु में गंगा-यमुना-काबेरी जैसी अजस्त्र स्रोतवाहिनी सरिताओं के समान सबके हृदयों को रससिक्त करने में समर्थ हैं। रीतिकाल में रचना करने पर भी इन कवियों में सरसता और सजीवता मिलती है, वह किसी रीतिबद्ध कवि में खोजने पर भी नहीं मिलेगी। रसराज श्रृंगार का चित्रण उन्होंने मानव की मूल मनोवृत्ति के रूप में करके उसे सर्वथा उदात्त रूप प्रदान कर एक महिमावान कार्य किया है। कविता की कमनीयता और सहजता को उस युग में कायम रख पा सकना इन समर्थ कवियों का ही काम था। इस काल में कविता में कला और शास्त्र देखना है तो रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध कवियों का सहारा लेना पड़ेगा। परन्तु यदि कविता में कमनीयता, अनुभूति प्रवणता, सहजता, सरसता से साक्षात्कार करना हो तो रीति-स्वच्छन्द कवियों की शरण में ही आना होगा।

रीतिकालीन काव्य का उद्भव और विकास दरबारी वातावरण में हुआ। रीतिकाल के कवि और आचार्य दोनों ही किसी न किसी आश्रयदाता की शरण में रहकर ही अपनी काव्य-माधुरी प्रवाहित कर सकते थे। घनानन्द मुहम्मदशाह रंगीले के दरबार में रहे बताये जाते हैं और कहा जाता है कि मीरमुँशी के पद पर तैनात थे। किन्तु उनकी कविता का चरमोत्कर्ष दरबार से वृन्दावन चले आने पर ही हुआ—यह भी एक सर्वस्वीकृत तथ्य है। साथ ही जिस सुजान के स्नेह के कारण उन्हें दरबार से निष्कासित होना पड़ा था उसे वे कभी नहीं भूल सके। उसे शृंगार पक्ष में नायक और भक्ति पक्ष में कृष्ण के रूप में माना जायेगा। कृष्ण और नायक का एकीकरण रीतिकालीन काव्य-परम्परा की जो महत्वपूर्ण विशेषता है, घनानन्द, बोधा आदि में भी यह पूर्णरूपेण विद्यमान है।

घनानन्द, बोधा, ठाकुर, बख्शी हंसराज आदि कवियों ने राधा-कृष्ण की लीलाओं का सरस गान किया है किन्तु कृष्ण-भक्त कवि सूरदास आदि के समान इनको भक्त मानना उपयुक्त न होगा। यूं तो बिहारी, देव, पद्माकर आदि कवियों ने राधा-कृष्ण के नाम का उल्लेख खूब किया है पर इतने से उन्हें भक्त कवि कहना भ्रम होगा। वहाँ राधिका-कन्हाई के स्मरण का तो बहाना मात्र है—

आगे के कवि रीझिहैं तो कविताई, न तु राधिका-कन्हाई सुमिरन को बहानो है।

परन्तु घनानन्द आदि के काव्य में भक्ति को रीति की परम्परा में बँधे इन कवियों के समान प्रदर्शन करने के लिए ग्रहीत नहीं किया है अपितु उसमें उनके हृदय की झाँकी दिखायी देती है।

ब्रजकाव्य के मर्मज्ञ समीक्षक डॉ० सत्येन्द्र ने इसीलिए रीतिकाल की भक्ति-काल की प्रतिक्रिया मानते हुए लिखा है—"भक्ति एक भावावेश की चरमावस्था है। वह हृदय के भावों की उत्ताल गति चाहती है। ऐसी भावाविष्ट दशा सदा नहीं बनी रह सकती, न सदा रुचिकर ही हो सकती है। रीतिकाव्य ने उसी प्रेम तत्त्व को दिव्य धरातल से उतार कर शरीर हाड़-मांस से अनुरक्त कर दिया, यह एक प्रतिक्रिया थी। ईश्वर में से उन्होंने ईश्वरतत्व निकालकर अपने जैसा नग्न नायक अथवा नायिका का रूप दे दिया।"

यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि रसखान, घनानन्द, ठाकुर आदि की इन भक्ति-प्रधान कविताओं में साम्प्रदायिकता या संकीर्णता की भावनाएँ नहीं हैं। इसी विशिष्टता को दृष्टि में रखकर आचार्य मिश्र ने उन्हें उन्मुक्त भक्त कवि की संज्ञा दी है। घनानन्द, ठाकुर आदि ने राधा-कृष्ण के जीवन के विविध पक्षों का विस्तार से वर्णन किया है। होली के प्रसंग में राधा-कृष्ण का जो रूप इन कवियों ने उपस्थित किया है वह वही है जो बिहारी, देव, मतिराम और पद्माकर ने किया है। इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय बात यह है कि उन्होंने कृष्ण के लिए मोहन, नन्दकिशोर, गोपाल, वनमाली, ब्रजछैल आदि शब्दों का प्रयोग किया है तो राधा के लिए जानकी

दुलारी, राधिका दुलारी, लली आदि नाम भी बार-बार आये हैं। इसी प्रकार वन-विहार-वर्णन और रास-वर्णन में संयोग श्रृंगार के परम्परा-युक्त वर्णनों की प्रचुरता भी इनमें देखने को मिलती है। यह अवश्य है कि इन कवियों के वर्णनों में वस्तुओं के यथातथ्य रूप को प्रस्तुत करने के स्थान पर उन वस्तुओं के हृदय पर पड़े प्रभाव की व्यंजना ही अधिक मिलती है। सौन्दर्य-वर्णन में तो विशेष रूप से यही हुआ है। कदाचित् इसीलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—"कविता इनकी भावपक्ष प्रधान है। कोरे विभाव पक्ष का चित्रण इनमें कम मिलता है जहाँ रूप-छटा का वर्णन इन्होंने किया है वहाँ उसके प्रभाव का वर्णन भी मुख्य है। उनकी वाणी की प्रवृत्ति अन्तर्वृत्ति निरूपण की ओर ही विशेष रहने से बाह्यार्थ निरूपक रचना कम मिलती हैं।"

युग का प्रभाव अल्पाधिक मात्रा में घनानन्द, बोधा, ठाकुर आदि कवियों पर भी पड़ना था। अतः हम देखते हैं कि स्वच्छन्द मनोवृत्ति के होने पर भी तथा रीतिकालीन रूढ़ियों से यथासम्भव मुक्त रहने पर भी घनानन्द, ठाकुर आदि कवियों पर रीतिकालीन परिपाटी का पर्याप्त प्रभाव भी परिलक्षित होता है। उन पर रीतिकाव्य के परिपाटी के प्रभाव की यदि खोज की जाय तो सभी प्रकार के अनुभाव, संचारी भाव, हाव आदि घनानन्द, बोधा, ठाकुर, बख्शी हंसराज, द्विजदेव आदि की रचनाओं में उपलब्ध हो सकते हैं। युगल-विहार-वर्णन में कृष्ण-रूप नायक और राधिका-रूप नायिका की विविध चेष्टाओं का वर्णन बड़े विस्तार से हुआ है। बख्शी जी का 'सनेह सागर' भी इसका उत्कृष्ट उदाहरण है।

वियोग-वर्णन की दृष्टि से भी इन कवियों का काव्य और भी सम्पन्न है। घनानन्द, ठाकुर, बोधा आदि की अधिकांश रचनाएँ अपनी प्रिय पात्रों से वियुक्त होने के बाद ही लिखी गयी हैं अतः उनमें विप्रलम्भ श्रृंगार की ही प्रमुखता है। प्रवास-विरह के वर्णन में घनानन्द बोधा आदि की विशेषता यह है कि एक ही छन्द में एक साथ कई-कई विरह दशाओं और संचारियों का समावेश कर दिया है। विरह-वर्णन में उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत ऋतु-वर्णन में घनानन्द आदि ने बसन्त और पावस ऋतु का ही वर्णन विशेष रूप से किया है। बसन्त और पावस दोनों वियोगियों के लिए दुःखदायी भी बहुत होते हैं।

निष्कर्ष रूप से देखें तो घनानन्द, ठाकुर, बोधा, बखशी हंसराज आदि के काव्य में रीतिकालीन काव्य की कतिपय विशेषताएँ यत्र-तत्र मिलती भी हैं और साथ ही कुछ ऐसी विशिष्टताएँ भी परिलक्षित होती हैं जो उनको सर्वथा मौलिक और महनीयता प्रदान करने वाली हैं। मात्र परम्परा का पालन करने के लिए तो इन स्वच्छन्द कवियों ने बहुत ही कम रीतिकालीन परिपाटी को अपने काव्य में गृहीत किया है। अपनी अनुभूति को अधिक समर्थ और सशक्त बनाने के लिए अवश्य ही उन्होंने कहीं जाने में और कहीं अनजाने में रीतिकालीन महत्वपूर्ण विशिष्टताओं को

आत्मसात कर लिया है। ऐसे स्थलों पर ही ये रीतिकाल के कवि मालूम पड़ते हैं अन्यथा तो वे इस परम्परा से पृथक अपने काव्य-प्रासाद का निर्माण कर सभी सहृदयों और साहित्य-रसिकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करते दीख पड़ते हैं। महत्वपूर्ण बात तो यह है कि रीतिकालीन काव्य की विशिष्टताओं को आत्मसात करते समय अथवा उस परिपाटी से मुक्त होते समय ही घनानन्द, बोधा आदि उत्कृष्ट और सरस कवि के रूप में ही हमारे समक्ष दीख पड़ते हैं।

रीतिकालीन काव्य का मूल्यांकन करते हुए 'काव्य की भूमिका' में अच्छी कविता के कर्मी और मर्मी रामधारी सिंह 'दिनकर' ने लिखा था—"किन्तु, रीतिकाल की निन्दा चाहे जितनी भी की जाय, हिन्दी कविता के इतिहास में उसका एक महत्व है और यह महत्त्व तब भी न्यून नहीं होता जब हम यह कहते हैं कि रीतिकालीन कवि इस अनुभूति तक पहुँच ही नहीं सके कि कवि का कर्म केवल मनोरंजन ही नहीं, समाज की चेतना को आलोड़ित करना भी होता है।………और आज का पाठक अनुभूति की सचाई पहले मांगता है, अभिव्यक्ति की सजावट का ख्याल पीछे करता है।……अनुभूति की सचाई, अभिव्यक्ति की सरलता तथा चुटीलापन और चित्रों की सुस्पष्टता, ये कुछ मुख्य गुण हैं जो आज के पाठकों को प्रभावित करते हैं और जिनकी कसौटी पर कसे जाने पर भी, ऐसी काफी कविताएँ बच जाती हैं, जिन्हें हम प्रथम कोटि से नीचे नहीं डाल सकते। सच तो यह है कि आज के पाठकों की रुचि का ख्याल रखा जाय तो नये मूल्यांक में अनुभूति की तीव्रता के कारण घनानन्द, बोधा और ठाकुर तथा रसखान अपने वर्तमान पद से कहीं ऊँचे हो जायेंगे और केशव जैसे कवियों का स्थान कुछ नीचे चला जायगा।"

रसखान, घनानन्द, ठाकुर, बोधा आदि इन कवियों में रीति के प्रति राग भी है और विराग भी। दूसरे शब्दों में कहें, इन सभी के काव्य में रीति और राग का ऐसा अद्भुत संगम है जिससे उनका काव्य शिष्ट और विशिष्ट दोनों विशेषणों को धारण करने में समर्थ सिद्ध हो सका है। जिस स्तर और रंग-ढंग की कविता रीतिकाल में हो रही थीं उनमें रीतिमुक्त कवि विशिष्ट और महनीय ही सिद्ध होते हैं। ये सबों से भिन्न प्रेम को लिए हुए एक स्वच्छन्द काव्य के वातावरण के निर्माण में तत्पर दीख पड़ते हैं। एक अभिनव पथ का निर्माण कर वे धीर भाव से उस पथ पर बढ़ते रहे और यूँ उन्होंने रीतिकालीन ऐन्द्रिक शृंगार के वातावरण में स्वस्थ, सरस और सहज प्रेम का सशक्त चित्रण करके सबको सुखद विस्मय में डाल दिया। रीतिकाल की बँधी-बँधायी परिपाटी से अलग वे एक नूतन काव्य-धारा को प्रवाहित करने वाले हैं। काव्य और शिल्प की दृष्टि से ये किसी भी रीतिबद्ध या रीतिसिद्ध कवि से टक्कर ले सकते हैं। न केवल रीतिकालीन काव्य में अपितु सम्पूर्ण हिन्दी-काव्य में ये रीति-स्वच्छन्द कवि अपना विशिष्ट और महनीय स्थान सुरक्षित रखे हुए हैं।

रसखान

सरसता के साकार सुमधुर कवि रसखान हिन्दी काव्य में अपनी अलग पहचान बनाये हुए हैं। भावुकता में रसखान किसी से कम नहीं हैं। भक्तिकाल में वे जन्मे अवश्य पर उनमें बहुतेरी प्रवृत्तियाँ रीतिकालिक घनानन्द जैसी परिलक्षित होती हैं। कृष्ण पर वे अपना सब कुछ न्योछावर करते दीख पड़ते हैं तो भी अनेक समीक्षक उन्हें सूर-तुलसी जैसा भक्ति कवि स्वीकारना नहीं चाहते। और, सचमुच अपने काव्य के मूल प्रतिपाद्य के लिहाज से वे रीति-स्वच्छन्द कवियों के अधिक समीप प्रतीत होते हैं। भक्त कवियों जैसी सर्वस्व समर्पणशीलता इनमें नहीं पायी जाती। इनकी सर्वस्व समर्पणशीलता भक्ति के क्षेत्र की न होकर प्रेम के क्षेत्र की है। प्रेम-पयोनिधि में सतत डूबे रहने वाले रसखान की कविता में तन्मयासक्ति अवश्य सूर आदि भक्त कवियों जैसी है पर वस्तुतः वे भक्त नहीं। वस्तुतः तो उन्हें प्रेमी कवि ही स्वीकारना होगा।

रीतिबद्ध ढाँचे को जैसे रीति-स्वच्छन्द कवियों ने अस्वीकृत किया और अपने प्रेम-पंथ पर उन्मुक्त होकर चले वैसी ही प्रवृत्ति रसखान में परिलक्षित होती है। रीति परम्परा का त्याग और प्रेमोन्मत्तता में काव्य-सृजन करना रसखान में भी वैसा ही है। काल-क्रम की दृष्टि से ये भले ही भक्ति काल की सीमा-रेखा में आते हों परन्तु काव्य-व्यक्तित्व इन्हें घनानन्द, बोधा जैसे रीति-रागी कवियों का सहधर्मी सिद्ध करता है। वैसे विद्वानों की अधुना खोज ने यह प्रमाणित कर दिया है कि सूर आदि के समकालिक अनेक कवियों ने रीति-कविता जैसे लक्षण-प्रतिपादन के छन्द और ग्रन्थ रचे थे। सूर कृत 'सारावली' और 'साहित्य लहरी' में रीति कविता के प्रभाव को लक्षित किया जा सकता है। अतः तुलसी के समकालिक रसखान में यदि कतिपय रीतिकालिक प्रवृत्तियाँ परिलक्षित हों तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए। परन्तु रसखान में ये प्रवृत्तियाँ रीतिकालिक रीतिबद्धता की न होकर रीति-स्वच्छन्दता की हैं। रसखान के काव्य का समग्र साक्षात्कार यदि समझदारी से किया जाये तो वे आलम, घनानन्द से भी पहले के स्वच्छन्दतावादी कवि सिद्ध होते हैं। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने भी यही मत व्यक्त किया है—"ये प्रेमोमंग के कवि गायक थे। अतः हिन्दी की स्वच्छन्द काव्यधारा के सबसे प्राचीन कवि रसखान ही ठहरते हैं। ·······जिस प्रकार ये रीति से अपने को स्वच्छन्द रखते थे उसी प्रकार भक्तों की साम्प्रदायिक नीति से भी। अतः ये भक्तिमार्गी कृष्ण भक्तों, प्रेममार्गी सूफियों, रीतिमार्गी कवियों सबसे पृथक स्वच्छन्द मार्गी प्रेमोन्मत्त गायक थे।"

तो, स्वच्छन्दतावादी सरस कवि रसखान के काव्य की मूल संवेदना प्रेम की है। उनकी आन्तरिक अनुभूति ही उनके काव्य का मूलाधार है। सूफी प्रेम-संवेदना से इसका सादृश्य दृष्टिगत तो होता है परन्तु बहुत अशों में उससे भिन्न भी है। फारसी सूफी साहित्य का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि इस प्रणय संवेदना में रहस्यानुभूति के अवलोकन होते हैं। यह रहस्यात्मक वृत्ति भले ही भावात्मक रहस्यवाद के अन्तर्गत रही हो, साधनात्मक रहस्यवाद के अन्तर्गत न रही हो पर भारतीय प्रेम संवेदना में रहस्यात्मकता के दर्शन नहीं होते। सगुणोपासना ही इसका मूल कारण रही है जिसके स्वरूप की कल्पना की जा चुकी है, उससे सीधा सम्बन्ध स्थापित करने में किसी प्रकार की कठिनाई आ भी कैसे सकती थी ? परन्तु जहाँ ईश्वर के निर्गुण निराकार रूप प्रणय भावना को जोड़ने का प्रयत्न हुआ, वहाँ अस्पष्टता का जाना स्वाभाविक ही था।

इस्लामी प्रभाव एक सूफी सम्प्रदाय के सम्पर्क में आकर ही भारतीय प्रणय संवेदना में रहस्यवाद का कुछ समावेश हुआ है। कह सकते हैं कि उसमें रहस्यवाद की झलक भर मिलती है। जागतिक प्रेम की चरम सीमा पर पहुँचकर साधक निर्गुण की ओर ही आकर्षित हुआ, इसी से इस स्वच्छन्द धारा के कवियों में रहस्यवादी भाव-धारा दृष्टिगत नहीं होती जबकि छायावाद फिर से निर्गुण और अज्ञात के चक्कर में पड़ा। अपने लौकिक प्रेम के चरमोत्कर्ष को वह निर्गुण के प्रेम में वैसे ही छिपाने का प्रयास करने लगा। जब हम अपने विवेच्य कवि की ओर दृष्टिपात करते हैं तो स्पष्ट होता है कि रसखान में साहित्य के निखार की अपेक्षा प्रणय संवेदना ही प्रधान रही है और इसी की अभिव्यक्ति उनके काव्य में हुई है।

रसखान ने कोई प्रबन्ध काव्य नहीं लिखा। उन्होंने फुटकर एवं मुक्तक रचनाएँ ही लिखी हैं। भगवान कृष्ण के जीवन में राम के जीवन की भाँति व्यापकता अवश्य रही है पर भगवान कृष्ण के लीला पुरुषोत्तम रूप को ही भक्तजनों ने अपनाया है और उनकी लीला-गान में ही अपना कला-कौशल दिखलाया है। यह विषय वास्तव में मुक्तक के अनुकूल है। यहाँ तक कि महाकवि तुलसीदास ने जहाँ 'रामचरितमानस' के माध्यम से अपने प्रबन्ध काव्य-कौशल का परिचय दिया है, जब कृष्ण पर काव्य लिखा तब मुक्तक ही लिखा। हम ऊपर कह आये हैं कि रसखान में साहित्यिक सौष्ठव और निखार की अपेक्षा प्रणय संवेदना की प्रधानता रही है और उसी की अभिव्यक्ति उनके काव्य में हुई है। अतः उनका प्रधान उद्देश्य अपनी मनोगत भावनाओं की अभिव्यक्ति था और भावाभिव्यक्ति के लिए प्रबन्ध रचना की अपेक्षा मुक्तक रचना और विशेष कर गीत अधिक सबल साधन माने जाते हैं। किन्तु रसखान ने गीत न लिखकर पुरानी काव्य परम्परा—जो अब क्षीण प्रायः हो चली थी, अपनाकर एक बार पुनः अपनी स्वच्छन्द मनोवृत्ति का परिचय दिया और साथ ही कवित्त तथा सवैया छन्द में अपनी मधुर रचना कर उन छन्दों को अमरत्व प्रदान कर दिया। उन्होंने प्रेम विषयक दोहे भी लिखे हैं जिनमें प्रेम का सैद्धान्तिक

विवेचन मिलता है और कवि के प्रेम विषयक विचारों का स्पष्ट परिचय मिलता है। उनके प्रेम विषयक ५२ दोहे 'प्रेम-वाटिका' नामक पुस्तिका में संग्रहीत हैं। कवि ने संभवतः इसे पुस्तक रूप देने की ही भावना से लिखा था—

बिधु, सागर, रस, इन्दु, सुभ, बरस, सरस 'रसखानि'।
प्रेम-वाटिका' रुचि-रुचिर, चिर हिय हरखि बखानि ।।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'प्रेम-वाटिका' के अतिरिक्त रसखान का एक और ग्रन्थ माना है जिसका नाम है—'सुजान रसखान'। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इनके अतिरिक्त उनके दो ग्रन्थ और माने हैं—'रसखान शतक' और 'पदावली'। कुछ विद्वान् अष्टयाम' नामक ग्रन्थ भी इन्हीं का रचित मानते हैं।

कुछ अश्लील भावना भरे कवित्त-सवैये भी रसखान के नाम पर चढ़ गये हैं पर रसखान की कविता के मूल स्वर में हमें कहीं भी अश्लील शृंगार की भावना का परिचय नहीं मिलता, वे तो शुद्ध प्रेम के गायक और वादक, सच्चे प्रेमी थे जिन्होंने प्रेम के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए प्रेम को शुद्ध, कामना रहित, स्वभावानुकूल, सदा एकरस रहने वाला और भगवान का ही स्वरूप माना है, और एकांगी प्रेम की भावना का समर्थन किया है जिसमें अश्लीलता का समावेश हो ही नहीं सकता।

रसखान का प्रतिपाद्य

रसखान के काव्य का विषय वही है, जो सूर साहित्य का वर्ण्य विषय है। किन्तु सूर जहाँ कृष्ण के बाल स्वरूप की ओर अधिक आकर्षित रहे हैं और भगवान की बाल-लीला गान में तल्लीन, वहाँ रसखान भगवान कृष्ण के युवा रूप पर ही अधिक मोहित रहे हैं, उनकी दृष्टि यौवन के वैभव पर ही गई है। कृष्ण, राधा, यमुनातट, मुरली, प्रेमलीला, करील-कुंज, गोचारण आदि रसखान के काव्य-विषय बने हैं। काव्य रचना करते समय हमारे कवि की दृष्टि राधा-कृष्ण की प्रेमलीला, चीर-हरण' तथा एकान्त मिलन पर ही केन्द्रित रही है। इसका एक कारण यह भी है कि रसखान अपनी युवावस्था से ही प्रेमी जीव रह चुके थे और उनके गम्भीर प्रेम की धारा का बहाव लौकिक की ओर से अलौकिक के प्रति मुड़ा था। उनमें भी हमें श्री कृष्ण के सौन्दर्य की ही पिपासा काम करती हुई दीख पड़ती है। उनके लौकिक जीवन का प्रेम जब श्रीकृष्ण की ओर मुड़ा तो अलौकिक बन गया। प्रेम का माधुर्य विरह की ठेस खाकर वाणी में मुखरित हो उठा। काव्य रचना उन्होंने पहले की थी या नहीं, पर अब जीवन का करुण संगीत बनकर वह प्रभावशाली बन गयी। इनके प्रत्येक पद में प्रेममयी भक्ति का ही अनोखा रंग दीख पड़ता है। इन्हें अपने सम-सामयिक अन्य भक्तों की भाँति न तो अपने इष्ट देव की लम्बी-चौड़ी प्रशंसा करने की इच्छा दिखाई देती है और न ही मुक्ति और बैकुण्ठ पाने की आशा में आत्म-ग्लानि से सिक्त विनय के पदों की रचना ही अभीष्ट है। ये तो साधारण अहीर के घर क्रीड़ा करने तथा वृन्दावन में गायें चराने वाले कान्हा और उसकी लीलाओं के

गान में ही सब कुछ भर पाते हैं और उसका गान करने में ही वे अघाते नहीं। इस प्रकार भक्तों से पृथक वे प्रेम राज्य में ही विचरण करने में आह्लादित होते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि बल्लभ सम्प्रदाय के उपास्य बाल-गोपाल हैं, पर रसखान ने उसी सम्प्रदाय में दीक्षा प्राप्त कर भी भगवान कृष्ण के बाल रूप की अपेक्षा उसके गोपिकारमण कुंजबिहारी रूप में ही अपनाया है। इसका विशेष कारण उनकी वैयक्तिक अभिरुचि और वैयक्तिक जीवन है, जो प्रेम के संभोग और संयोग पक्ष में अधिक विश्वास करता रहा है। इसी से ही रसखान का ध्यान प्रेम के संयोग पक्ष पर विशेष रहा है। उनका विरह वर्णन भी अत्यन्त क्षणिक विरहावस्था का अंकन करने वाला है, उसमें कान्हा के मथुरा जाने के कारण गोपियों की विरह वेदना की अपेक्षा, कान्हा का कुंज में छिप जाना, और गोपियों के विरह-विलाप पर आकर उनसे मिलने तक ही सीमित है। हमारे कवि को कान्हा का विरह असह्य ही था अतः उन्होंने अपनी गोपियों को भी कान्हा के विरह में दग्ध नहीं किया।

काव्य में स्वच्छन्द धारा के कवियों का अध्ययन करने पर एक बात और स्पष्ट हो जाती है कि स्वच्छन्द मार्ग की विशेष पहचान काव्य में भावों की वैयक्तिकता भी है। इस धारा का कवि अपने भाव आप ही उत्तम पुरुष द्वारा व्यक्त करता है। उसमें शास्त्रीय मर्यादा की रोक नहीं आने देता। सीधी अभिव्यक्ति की ही प्रधानता रहती है। रसखान में ऐसे छंद अनेक मिलते हैं जिनमें कवि ने अपना प्रेमाभिलाष स्वयं व्यक्त किया है जिसके कारण उसके काव्य में निश्छल एवं स्पष्ट अभिव्यक्ति की शक्ति आ गयी है और सीधी सरल रचना होते हुए भी वह अपना अनूठापन बनाये रखने में समर्थ रही है। निश्छल और स्पष्ट अभिव्यक्ति सबल व्यक्तित्व की परिचायक है, और यही कारण है कि पाठक और श्रोता रसखान की रचना से परिचय स्थापित होते ही, उसके रंग में रंग जाता है और उसे अपनी ही आत्मा की अभिव्यक्ति मान रस-विभोर हो उठता है। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने 'हिन्दी काव्य धारा में प्रेम-प्रवाह' में लिखा है—'मीरा के अनन्तर, किन्तु भक्तिकाल के ही अन्तर्गत, श्रीकृष्ण के एक मुस्लिम भक्त ने भी प्रेमलक्षणा भक्ति का सुन्दर परिचय दिया है और उसे अधिकतर व्यक्तिगत उद्‌गारों द्वारा ही प्रकट करने की चेष्टा की है।' रसखान के काव्य में अधिक मात्रा ऐसे छंदों की है जिनमें गोपियों के बहाने अभिलाष, प्रेम, कलह माधुरी, मोहन आदि का वर्णन हुआ है। गोपियों के इस कवि ने अपना ही हृदय खोल कर रख दिया है। हमारा कवि अपने को गोपियों से अलग न मानता हुआ, स्वयं को ही गोपिका मानकर स्वानुभूति को ही वाणी देता जान पड़ता है। एक उदाहरण लीजिए—

> आज गई हुती भोरही हौं, 'रसखानि' रई कहि नन्द के भौनहिं।
> वाको जिगो जुग लाख करोर, जसोमति को सुख जात कह्यो नहिं॥
> तेल लगाइ, लगाइ कें अंजन, भौंह बनाइ, बनाइ डिठोनहिं।
> डारि हमेल निहारति आनन, वारति ज्यों चुचकारति छौनहिं।

यहाँ कवि ने 'आजु गई हुती भोरही हौं' कहकर सवैये को निजानुभूति के भीतर ला दिया है, अतः वह किसी गोपिका की अनुभूति नहीं रह गया। रसखान की कविता में उसका व्यक्ति पक्ष इतना सबल है कि वह छिपाए नहीं छिपता।

रसखान ने प्रेमाभक्ति को अपनाया था और वैष्णव आचार्यों ने इसे रस माना है। रसमीमांसकों ने इसे रस की मान्यता नहीं दी है। फिर भी एक बात निश्चित ही है कि भाव-प्रधान काव्य में रस की धारा अबाध रूप से प्रवाहित रहती है और रसखान की कविता भाव प्रधान कविता है। उनकी भक्ति के आलम्बन कृष्ण, गोपियाँ, यमुना-तट, वंशीवट, बाँसुरी, निकुँज आदि रहे हैं। रसखान की प्रवृत्ति-आत्मसमर्पण की ओर अधिक रही है। ये तन-मन से श्रीकृष्ण के हो गये थे। उन्होंने प्रेम को ही संसार का सार माना है और शेष सारी विभूति को तुच्छ माना है। उनकी दृष्टि में तो—

कंचन मन्दिर ऊँचे बनाय कै मानिक लाय सदा झमकावै।
प्रातहि ते सगरी नगरी गज-मोतिन ही की तुलानि तुलावै॥
पालै प्रजानि प्रजापति सों बन संपति सो मघवाहि लजावै।
ऐसो भयो तो कहा 'रसखानि' जु सांवरे ग्वाल सों नेह न लावै॥

रसखान सौन्दर्य-प्रेमी जीव थे और उनका कृष्ण के प्रति प्रेम भी कृष्ण के सौन्दर्य पर ही निर्भर था। किन्तु सौन्दर्य-प्रेमी होते हुए और संयोग पक्ष को ही प्रेम का प्रधान अंग मानने वाले रसखान में कहीं भी अश्लीलता की गंध नहीं आने पायी। वह मर्यादित एवं संयत रहा है। उसके राधा, कृष्ण, गोपियाँ सांसारिक प्राणी नहीं लगते, उनकी दिव्यता स्पष्ट झलकती दृष्टिगत होती है। गोपिकाओं के प्रेम की पीर निर्मल, सरल और शुद्ध ही रही है। भले ही उन्होंने लैला के प्रेम की प्रशंसा की हो और लैला के प्रेम को प्रमाण माना हो—

अकथ कहानी प्रेम की जानत लैला खूब।
दो तनहुँ जहँ एक भे, मन मिलाइ महबूब॥

फिर भी उनका यह प्रेम भाव लौकिक शृंगार की संकीर्णता से बहुत ऊपर उठा हुआ है। प्रेम, शृंगार रस का स्थायी भाव है और रसखान के काव्य में प्रेम की प्रधानता होने के कारण उसके काव्य को शृङ्गार रस प्रधान माना जा सकता है। कहीं-कहीं वात्सल्य रस की छटा भी फूट पड़ी है, पर ऐसे स्थल अधिक नहीं हैं। जैसा कि हम कह ही आये हैं कि रसखान के काव्य में संयोग पक्ष की प्रधानता है।

रसखान कृष्ण पर सर्वस्व न्यौछावर करने में आनन्द का अनुभव करते हैं। वे पैदा भी भक्तिकाल में हुए हैं। अतः उन्हें भक्त कवि मानना समीचीन लगता है। कुछ समीक्षक ऐसा मानते भी हैं। डा० श्यामसुन्दरदास के अनुसार कृष्ण भक्त कवियों में सच्चे प्रेम मग्न कवि रसखान का नाम भगवान कृष्ण की सगुणोपासना में विशेष ऊँचा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'इतिहास' में इन्हें बड़ा भारी कृष्ण

भक्त के रूप में उल्लिखित करते हुए कहा कि इनका प्रेम ही भगवद् भक्ति में परिणत हुआ। डा० रामकुमार वर्मा के मतानुसार रसखान श्री कृष्ण-प्रेम और तन्मयता के लिए प्रसिद्ध हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के कथनानुसार-परमाकर्षक कृष्ण भक्ति के मुस्लिम सहृदयों में रसखान एक प्रमुख कवि हैं।

परन्तु इन सब से पृथक आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने 'रसखान ग्रन्थावली' में अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"रसखान भक्तिमार्गी कृष्णभक्तों, प्रेममार्गी सूफियों, रीतिमार्गी कवियों इन सब ही से पृथक स्वच्छन्द मार्गी प्रेमोन्मत्त गायक थे।"

रीतिकाल के विज्ञ समीक्षक डा० नगेन्द्र रसखान आदि की तथाकथित भक्ति के बारे में कहते हैं—"यह भक्ति भी उनकी शृंगारिकता का अंग थी। जीवन की अतिशय रसिकता से जब ये लोग घबड़ा उठते होंगे तो राधा-कृष्ण का यही अनुराग उनके धर्मभीरू मन को आश्वासन देता होगा इस प्रकार रीतिकालीन भक्ति एक ओर सामाजिक कवच और दूसरी ओर मानसिक शरणभूमि के रूप में इनकी रक्षा करती थी। तभी तो ये किसी तरह उसका अचल पकड़े हुए थे। रीतिकाल का कोई भी कवि भक्तिभावना से हीन नहीं है, हो भी नहीं सकता था, क्योंकि भक्ति उनके लिए मनोवैज्ञानिक आवश्यकता थी। भौतिक रस की उपासना करते हुए उसके विलास-जर्जर मन में इतना नैतिक बल नहीं था कि वे भक्ति रस में अनास्था प्रकट करने का उसका सैद्धान्तिक निषेध करते। इसलिए रीतिकाल के सामाजिक जीवन और काव्य में भक्ति का आभास अनिवार्यतः वर्तमान है और नायक-नायिका के लिए बार-बार हरि और राधिका शब्दों का प्रयोग किया गया है।"

परन्तु रसखान चूंकि रीतियुग में जन्मे कवि नहीं हैं अतः उन पर डा० नगेन्द्र का यह विश्लेषण पूर्णतः लागू नहीं होता। रसखान के काव्य में बिहारी, देव, पद्माकर जैसी भक्ति का आभास नहीं अपितु वहाँ तो वह प्राणों का स्पन्दन जैसा है। यह बात दूसरी है कि उनकी यह भक्ति सवथा प्रेम से संपृक्त और सयुक्त रही है। प्रेम बिना उनकी भक्ति की कोई सत्ता या स्थिति नहीं।

'हिन्दी साहित्य का अतीत' ग्रन्थ में आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र अपने मत को व्यक्त करते हुए कहते हैं—' इन स्वच्छंद कवियों की आत्माभिव्यक्ति के लिए कृष्ण लीला सामग्री का काम कर गई। रीतिबद्ध कवियों ने कृष्ण लीला के प्रसग बराबर लिए हैं, पर वे भक्त नहीं माने जाते, न माने जा सकते हैं। 'आगे के सुकवि रीझिहैं वो कविताई नतु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है' लिख देने से कोई भक्त नहीं माना जा सकता। इन स्वच्छद कवियों ने हृदय के योग के साथ भक्ति की रचनाएँ की हैं। ये साधन के रूप में ही कृष्ण लीला का उपयोग करते हैं। कृष्ण भक्तों की भक्ति भावना परिमित, साम्प्रदायिक या अनन्य दिखाई देती है। श्री कृष्ण स आगे वे प्रायः नहीं बढ़ते। प्रेमोन्मत्त गायकों ने उदारतापूवक अन्य देवी-देवताओ को भी ग्रहण किया। यदि कहा जाये कि यह उदारता भक्ति का लक्षण है तो पूछना पड़गा

कि रहीम ने अपनी भक्ति भावना उदार रखी है पर वे भक्त कवि नहीं माने जाते। सेनापति रामोपासक थे, राम की कथा के साथ उन्होंने कृष्ण कथा भी 'कवित्त रत्नाकर' में सन्निविष्ट की है, पर वे भक्त नहीं, शृंगारी कवि ही स्वीकृत हैं। इसलिए रसखान, शेख, आलम, घनानन्द आदि को शुद्ध भक्त कहने में हिचक होती है। सूरदास या अन्य भक्त कवि जैसे पद के अन्त में 'सूर के प्रभु', 'सूर के स्वामी', 'परमानन्द के प्रभु', 'छीत के स्वामी' आदि पदावली का उपयोग करते हैं, वैसी प्रवृत्ति भी इन कवियों में नहीं दिखाई देती। पद्माकर, मतिराम, देव आदि की जैसी उक्तियाँ हैं वैसी ही इनकी भी हैं।"

प्रेममार्गी मानते हुए भी आचार्य मिश्र कहीं न कहीं रसखान को भक्त रूप में भी स्वीकारते हैं। रसखान की मूल प्रवृत्ति का विवेचन-विश्लेषण करते हुए ही आचार्य मिश्र लिखते हैं—

"यदि बिना भक्त कहे सन्तोष न होता हो तो विधि मिलाने के लिए यह बात ध्यान में रखनी होगी कि इनकी रचना के प्रायः तीन खण्ड हैं। प्रथम खण्ड की रुचि रीतिबद्ध कविता की ओर दिखायी देती है, जिसमें इनकी ऐसी रचनाएँ आती हैं जिनमें इन्होंने काव्यक्षेत्र में अपनी वाणी की परख या जाँच की है। दूसरे खण्ड में इन्होंने रीतिबद्ध कविता का त्याग कर दिया है और स्वच्छन्द रूप से प्रेम के पवित्र क्षेत्र में पदापण किया है। तीसरे खण्ड में इनकी रचनाएँ भक्तिपरक हो गई हैं। इन कवियों का लक्ष्य श्रीकृष्ण ही हों सो भी नहीं है। सबसे अधिक विरोध रसखानि के सम्बन्ध में सम्भावित है। पर रसखानि ने स्वयं प्रेम को साध्य कहा है—

जेहि पाएँ बैकुंठ अरु हरिहूँ की नहिं चाहि।
सोइ अलौकिक सुद्ध सुभ सरस सप्रेम कहाहि॥

श्री वल्लभाचार्य ने हृदय के संस्कार और विकास की दृष्टि से भक्ति को साध्य मानकर अवश्य कहा है पर ईश्वर भक्ति को ही, यह कभी न भूलना चाहिए। पर रसखानि स्पष्ट कहते हैं—

इक-अंगी बिनु कारनहिं इक रस सदा समान।
गनै प्रियहि सर्वस्व जो सोइ प्रेम प्रमान॥

आचार्य मिश्र 'रसखान' की मूल प्रवृत्ति का विश्लेषण करते हुए आगे लिखते हैं—

"श्री वल्लभाचार्य के अनुसार भगवद्भक्ति या अलौकिक प्रेम ही साध्य हो सकता है, उसे ही एकांकी निर्हेतुक, एकरस होना चाहिए। पर रसखानि लौकिक प्रेम में भी इसे स्वीकार करते हैं। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार ये रीति से अपने को स्वच्छन्द रखते हैं उसी प्रकार भक्ति की साम्प्रदायिक नीति से भी। अतः ये भक्तिमार्गी कृष्ण भक्तों, प्रेममार्गी सूफियों, रीतिमार्गी कविरों सबसे पृथक स्वच्छन्दमार्गी प्रेमोन्मत्त गायक थे। कोई इन्हें इनकी भक्ति विषयक रचना के कारण भक्त कहता

हो तो कहे, पर इतने 'व्यतिरेक' के साथ ये स्वच्छन्द प्रेममार्गी भक्त थे, तो कोई बाधा नहीं है। स्वच्छन्दता इनका नित्य लक्षण है। यही कारण है कि इन्होंने काव्य-शैली की दृष्टि से भी भक्तों में प्रस्थान भेद प्रस्तुत किया। कृष्ण भक्त की अधिकतर रचनाएँ गीत में ही मिलती हैं। काव्य की प्राचीन कवित्त-सवैया वाली शैली में उन्होंने पूरी आस्था नहीं दिखायी। भगवदुपासना के रागरंग के लिए राग-रागनियों के अनुकूल परन्यास करने वाले गीत ही उन्हें अधिक रुचे हैं। इन स्वच्छन्द कवियों की कुछ रचनाएँ पद की भी अवश्य हैं, पर इनकी एक प्रकार से प्रवृत्ति-बोधिनी कृति कवित्त सवैयों में ही है।.........रसखानि ने भी भक्तों की गीति-रीति का त्याग कर दिया है।" .

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के रसखान सम्बन्धी विभिन्न स्थानों पर व्यक्त मतों को निष्कर्ष रूप में इस प्रकार से रखा जा सकता है—

हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में तीन प्रकार की काव्य धाराएँ थीं—एक शुद्ध भक्ति की, दूसरी काव्य रीति की, तीसरी स्वच्छन्द वृत्ति की। प्रथम कोटि वालों के लिए भक्ति साध्य थी, कविता साधन, क्योंकि वे केवल भक्ति की अभिव्यक्ति के लिए कविता नहीं करते थे। वे भक्ति के प्रचारक भी थे। पर रसखान की कविता को हम भक्ति की प्रचारक करने वाली रचना नहीं कह सकते जैसा कबीर, सूर, तुलसी की रचनाओं को कहा जाता है। रसखान तो प्रेमोमंग के कवि थे। ये हिन्दी की स्वच्छन्द काव्यधारा के सबसे प्राचीन कवि ठहरते हैं। रीतिधारा वालों का काव्य ही साध्य था किन्तु काव्य के साधन रीति के ऊपर ही इन्होंने विशेष ध्यान दिया। वे केवल चमत्कार के लिए कविता करते थे। रसखान के हृदय पक्ष की प्रधानता के कारण उन्हें इस धारा में नहीं माना जा सकता। तीसरी धारा थी स्वच्छन्द, इस धारा के कवियों को कलापक्ष का आग्रह नहीं था। प्रेम में लीन होने पर काव्य का प्रवाह आप से आप बाहर आ जाता था। अतः रसखान को स्वच्छन्द काव्यधारा का ही कवि मानना चाहिए। कृष्ण भक्तों की गीति परम्परा का त्याग करके कवित्त सवैया-पद्धति का सहारा लेना ही उन्हें भक्त कवियों की सामान्य श्रेणी से अलग कर देता है। इसी से रसखान को उन्मुक्त प्रेमोन्मत्त कवि कहा जाता है। मिश्रजी आगे चलकर कहते हैं कि निर्गुण में रूप की योजना न होने के कारण उन्होंने सगुण में अपनी स्वच्छन्द वृत्ति लीन की—

> आनन्द अनुभव होत नहिं बिना प्रेम जग जान।
> कै वह विषयानन्द कै ब्रह्मानन्द बरवान॥

आचार्य मिश्र रसखान को प्रेमोमंग का कवि मानते हुए भी कृष्ण-भक्ति की ओर आकृष्ट भी मानते हैं। रसखान पर शोध करने वाली डॉ० माजिदा असद भी रसखान को भक्त मानने में संकोच करती हैं। फिर भी वे स्पष्ट रूप से रसखान को भक्त के रूप में अस्वीकार भी नहीं कर पातीं। वास्तव में रसखान तो प्रेम में ही

परमात्मा का रूप देखते थे और चूंकि उनका प्रेम किसी लौकिक पात्र के प्रति प्रमाणित नहीं हो पाया अतः उनकी प्रेमानुभूति भक्ति से पृथक प्रतीत नहीं होती।

रसखान का स्पष्टतः मत है कि शास्त्रों-वेदों को पढ़ने से या ध्यान आदि से तब तक कुछ नहीं हो सकता जब तक कि प्रेम का अनुभव न किया जाये—

ज्ञान ध्यान विद्यामती, मत विश्वास विवेक।
विना प्रेम सब धूरि हैं, अग जग एक अनेक॥

वास्तव में देखा जाये तो रसखान की दृष्टि में प्रेम और भक्ति दोनों परस्पर अभिन्न हैं। हिन्दी के कुछ साहित्याचार्यों के लिए भले ही भक्ति प्रेम से सर्वथा पृथक अस्तित्व रखती हो किन्तु रसखान के अनुसार तो प्रेम में ही भगवान का निवास है। सूर और कबीर ने भी इसी प्रेम को प्रकारान्तर से प्रभु-प्राप्ति में सहायक माना है। जायसी तो प्रेम मार्ग के घोषित पथिक थे ही। कबीर इसीलिए 'ढाई आखर प्रेम का' घोषित करके प्रेम को ही सर्वाधिक महत्व देते हैं—

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पण्डित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो पण्डित होय॥

प्रेम के कवि होने पर भी रसखान लौकिक प्रेम के वैसे कवि नहीं थे जैसे बिहारी, देव आदि रीति कवि। और यह भी सही है कि रसखान भक्त कवि होने पर भी वैसे भक्त भी नहीं थे जैसे सूर, तुलसी आदि भक्त कवि। हाँ, वे ऐसे प्रेमी भक्त अवश्य हैं जो प्रेम में ही भगवान की उपलब्धि पाकर उमंगित और उल्लसित होते हैं। भक्त को अपने भगवान की भक्ति में लौकिक संसार की सुध नहीं रहती जबकि रसखान की प्रेमाभक्ति लौकिकता की लालसा से मुक्त नहीं है। प्रेम-पंथ उनके लिए प्रभु-प्राप्ति के पंथ जैसा पुनीत और प्रसन्नताप्रद है और उस पंथ पर चलकर प्रिय की प्राप्ति प्रभु-प्राप्ति जैसी परम प्रसन्नता की अनुभूति कराती है। विश्वंभर 'मानव' के शब्दों में—"प्रेम में रसखान ने लौकिक और अलौकिक दोनों स्थितियों को पार किया था; अतः उनके कथन में अनुभूति की सच्चाई निहित है। उनके अनुसार प्रेम रहस्य को जानना कठिन काम है। वह ईश्वर के समान अवर्णनीय है। ऐसा समझना चाहिए कि ईश्वर और प्रेम दोनों अभिन्न रूप से स्थित हैं। जो रहस्य से अवगत हो जाता है, फिर उसे मृत्यु व्याप्त नहीं होगी। प्रेम वेदों, पुराणों एवं स्मृतियों का सार है। उसके बिना कर्म, उपासना, ज्ञान सब व्यर्थ हैं। जिसने प्रेम नहीं किया, जीवन के रस को उसने जाना ही नहीं। प्रेम की एक पहचान यह है कि उसमें देना ही है, लेना कुछ नहीं। वह निश्चित रूप से वासना से भिन्न है। वह विधि-निषेध से परे है। उद्धव और नारद को, लैला और मजनूं को प्रेम का कुछ अनुभव था, पर आदर्श के रूप में किसी को प्रस्तुत करना हो तो रसखान गोपियों का नाम लेंगे।" रसखान के लिए प्रेम परमात्मा से पृथक नहीं है वरन् उसी का

परिवर्तित परन्तु प्रीतिकर और सजीव रूप है। 'प्रेम वाटिका' में उनकी मान्यता इस प्रकार मुखरित हुई है—

प्रेम हरी का रूप है, त्यौं हरि प्रेम-स्वरूप।
एक होइद्वै यों लसैं, ज्यौं सूरज अस धूप॥

उनके लिए प्रेम हरि का ही रूप है और हरि स्वयं प्रेम स्वरूप है और हरि और प्रेम दोनों इसी प्रकार अभिन्न हैं जैसे सूर्य और धूप। लेकिन रसखान ने हरि के प्रति अपने अनन्य भाव को प्रेम कहकर ही पुकारा है—भक्ति का नाम देना उन्हें प्रिय नहीं। लगता है कि भले ही उनका प्रेम परमात्मा (हरि) के प्रति है पर है वह प्रेम, भक्ति नहीं। वे अपार्थिव प्रेम का ही निरूपण और चित्रण करते हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि राधा और कृष्ण ये दोनों ही प्रेम के आलम्बन हैं। प्रेम-वाटिका के मालिन और माली हैं। कृष्ण को वे भी परमात्मा या परम ब्रह्म मानते हैं और वे यह भी मानते हैं कि श्रीकृष्ण एक ऐसी अज्ञेय सत्ता हैं जिन्हें न देवता जान पाते हैं और न ऋषि-मुनि। परन्तु फिर भी वह अपने को प्रेम के वशीभूत पाता है। अतः रसखान के अनुसार प्रेम से ही उसे भी प्राप्त किया जा सकता है—

ब्रह्म मैं ढूढयो पुरानन-गानन, वेद रिचा सुनि चौगुने चायन।
देख्यो सुन्यो कबहू न कितू वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन।
टेरत-हेरत हारि परयो रसखान बतायो न लोग लुगायन।
देखो दुरो वह कुंज कुटीर में बैठो पलोटट राधिका पायन।

प्रेम भगवान की भाँति सर्वव्यापक और सर्वप्रभावी है। जैसे भक्ति में भगवान और भक्त में द्वैत नहीं रहता वैसे ही प्रेम में द्वैत भावना लुप्त हो जाती है। प्रेम में भक्ति जैसी ही अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है। साँसारिक प्रेम शुद्ध प्रेम के समान स्थायी, आनन्दपूर्ण, सरस और महान नहीं होता। शुद्ध प्रेम स्वयं ही बीज है, स्वय ही अंकुर है, स्वयं ही सिंचन और स्वय ही पत्र-पुष्प और फल है। वह स्वयं ही कारण और कार्य है। रसखान के अनुसार ऐसा प्रेम अलौकिक और आनन्दस्वरूप है और उसका स्वरूप उसी प्रकार विविधतापूर्ण है जिस प्रकार ईश्वर नाना रूपधारी है और उसके नाना नाम हैं। इस संसार मे अन्य सभी वस्तुओं को देखा जा सकता है, उनका वर्णन किया जा सकता है, पर प्रेम और भगवान ये दो तत्त्व ऐसे हैं जिन्हें न तो देखा जा सकता है और न जिनका वर्णन किया जा सकता है। प्रेम ऐसा ज्ञान है जिसे प्राप्त करने के बाद किसी अन्य ज्ञान को प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। स्त्री, बन्धु, पुत्र, मित्र आदि के प्रति मनुष्य के मन में यद्यपि स्वाभाविक प्रेम होता है पर इसे सच्चा प्रेम नहीं कहा जा सकता। सच्चा प्रेम किसी भी प्रकार के कारण की अपेक्षा नहीं रखता। वह सदैव समान रहता है और सदैव प्रिय की हित-कामनाओं से परिपूर्ण होता है। इस प्रेम को प्राप्त करने के बाद प्रभु-प्राप्ति की

इच्छा भी नहीं रह जाती । रसखान ऐसे ही प्रेम को अलौकिक, शुद्ध, शुभ और सरस बताते हैं—

जिहिं पाए बैकुण्ठ अरु, हरिहू की नाहि चाहि।
सोइ अलौकिक शुद्ध सुभ, सरस सुप्रेम कहाहि॥

× × ×

हरि के सब आधीन हैं पै, हरि प्रेम आधीन।
याही तें हरि आपु ही, याहि बड़प्पन दीन॥

रसखान की प्रेम भावना लौकिकता से ऊपर उठी हुई थी । उसमें किसी लौकिक स्त्री के प्रति चाहना या कामना नहीं है और इसीलिए उसमें सूर जैसी स्थिति के दर्शन होते हैं । सूर में गोपियाँ हैं, राधा हैं जो कृष्ण से प्रेम करती हैं और उनसे मिलने के लिए निसिदिन नैन भी बरसाती रहती हैं । रसखान के प्रेममूला भक्ति का आलम्बन भी लौकिक नहीं लगता वरन् वह अलौकिक है । सूर में किसी लौकिक पात्र की छवि नहीं, इसीलिए उनकी प्रेमाभक्ति लोक की होकर भी लोक से परे की है । यही बात हमें रसखान की प्रेम भावना में दृष्टिगोचर होती है । उनके काव्य में भी हम सूर जैसे भक्त कवियों के मानस-बिम्बों को ही देखते हैं । वैसे घनानन्द को भी कुछ विद्वान् भक्त बता देते हैं किन्तु घनानन्द के काव्य में सुजान जैसी लौकिक स्त्री के प्रति सम्मोहन के स्वर स्पष्टतः मुखरित मिलते हैं । रसखान में ऐसा स्वर मुखरित नहीं मिलता । अतः उनकी प्रेम-भावना घनानन्द से कहीं अधिक भक्ति की ओर झुकी प्रतीत होती है । परन्तु यह भी सही कि है सूर जैसी भक्ति के स्पष्ट स्वर भी रसखान में नहीं मिलते । तो यह मानना पड़ता है कि उनके काव्य में प्रेम पहले है और भक्ति बाद में । शायद वे भी खुद को 'प्रेम-पगा' या 'प्रेम-पथिक' कहलाना अधिक पसन्द करते हैं जबकि सूर को स्वयं भक्त के अलावा कुछ अन्य मानना अप्रीतिकर लगेगा । प्रेम के प्रति उनकी प्रगाढ़ रुझान उनके प्रमुख ग्रन्थ 'प्रेमवाटिका' के नामकरण और प्रमुख प्रतिपाद्य के चित्रण में भी परिलक्षित की जा सकती है ।

शिल्प-विधान

रसखान रससिद्ध कवि थे । भावुकता में पगे रसखान अपनी कविता को सजाने-सँवारने के प्रति विशेष सजग नहीं थे । फिर भी उनके काव्य को शिल्प-विधान की दृष्टि से हेय कहने का कोई साहस नहीं कर सकता । भाषा की सुष्ठता से अलंकारों के प्रयोग को सार्थकता मिली है वहाँ उससे छंद को भी सजीवता मिल पायी है रसखान यूँ तो अन्य रीति कवियों के समान शब्दों से खिलवाड़ या उनके मनमाने प्रयोग नहीं करते तथापि भाषा में माधुर्य और सौकुमार्य की सृष्टि हेतु, अलंकार-प्रयोग में सजीवता लाने को और छद में अधिक गतिशील बनाने को वे शब्दों में रूपात्मक परिवर्तन करने या अन्य भाषा के शब्दों का प्रयोग करने से संकोच नहीं करते ।

रसखान की सरसता का सबसे बड़ा आधार उनकी भाषा है। उन्होंने ब्रजभाषा को अपनाया क्योंकि उनके काव्य का सम्पूर्ण कथ्य ब्रज में ही सिमटा हुआ था। ब्रजभाषा की सुपरिचित सुमधुरता और सुकुमारता का उनके काव्य में सर्वत्र साक्षात्कार मिलता है। ब्रजभाषा का सारल्य, सहजता, सरसता तो उनके छन्दों में है ही, चंचल कालिन्दी जैसी चपलता और चारुता के दर्शन भी वहाँ अनायास हो जाते हैं। शुक्ल जी ने इसीलिए इनकी प्रशंसा में लिखा था—"शुद्ध ब्रजभाषा का जो चलतापन और सफाई इनकी और घनानंद की रचनाओं में है वह अन्यत्र दुर्लभ है।"

अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए रसखान ने कहीं भी कृत्रिमता को नहीं अपनाया। किसी भी कोने के शब्दों को अपनाने में परहेज नहीं किया। अलबत्ता यह अवश्य देखा वह काव्य में प्रयुक्त वह शब्द सहज-सरस बन पड़ा है और वह बोलचाल से ज्यादा दूर तो छिटका नहीं पड़ा है। 'मानुस हों तो वही रसखान बसे ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन' वाले छन्द को ही लें तो उसमें ये सभी गुण परिलक्षित किये जा सकते हैं।

शब्दों के चयन में भी रसखान ने बड़ी सतर्कता दिखायी है, वे ही शब्द चुने हैं जो भावों को सम्प्रेषण और मूर्तरूप प्रदान करने में सहायक हुए हैं। हम यह भी कह सकते हैं कि रसखान ने छन्दों के चुनाव में भी अपनी सतर्कता दिखाई है। उन्होंने मत्तगयंद, सवैया और कवित्त मनहरण को ही अपनाया है जो अपने नाम के अनुकूल ही गुणों से युक्त होने के कारण उसकी भाषा में अद्वितीय प्रवाह लाने में समर्थ हुए हैं।

रसखान की भाषा में अवधी, अपभ्रंश और ब्रजभाषा के परम्परागत शब्दों, राजस्थानी तथा अरबी-फारसी के शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। प्रादेशिक भाषाओं के इन शब्दों और बोलचाल में घुलमिल गये अन्य भाषाओं के शब्दों के कारण भी उनकी भाषा में स्वाभाविकता ही आयी है। चूँकि रसखान ने बोलचाल की भाषा को प्रमुखतः अपनाया है, अतः स्वभावतया उसमें अन्य भाषाओं के शब्द भी आ गये हैं।

अरबी-फारसी शब्दों के सहज प्रयोग का एक उदारण—

प्रेम-रूप दर्पन अहो रचे अजूबो खेल।

यहाँ 'अजीब' शब्द को उसके शुद्ध रूप में न अपनाकर कवि ने 'अजूबो' बना दिया है। वैसे ही 'ताक' के लिये 'ताख', 'शुमार', के लिये 'सुमार' आदि शब्द भी मिलते हैं।

अवधी भाषा के शब्दों का कवि ने खुलकर प्रयोग किया है। जैसे—

ता दिन तें यहि वैरी बिसासिन, झांकन देत नहीं है दुवारो।
होत चवाव बचाओं सु क्यों करि, क्यों अलि भेटिये प्रान पियारो॥

ब्रज भाषा में 'द्वारो' और 'प्यारो' शब्दों को कवि ने अवधी रूपों में दुवारो और

दियारो के रूप में प्रयुक्त किया है। और भी अवधी के शब्द मिलते हैं, जैसे—ताहि, अस, केरी, आहि, अहै आदि।

रसखान के काव्य में अपभ्रंश, प्राकृत आदि के विरल प्रयोग भी मिलते हैं और राजस्थानी आदि के भी। किन्तु कुल मिलाकर उनके काव्य की भाषा ब्रजभाषा की लुनाई और माधुर्य को नहीं छोड़ पाती।

मुहावरों और कहावतों के प्रयोग से भाषा में एक प्रकार की शक्ति और सजीवता आ जाती है। मुहावरों और कहावतों के प्रयोग से भाषा में प्रवाह और सजीवता आती है अतः रसखान ने जन साधारण में प्रचलित मुहावरों और कहावतों को ही अपनाया है, जिनसे उनकी काव्य भाषा की शक्ति में अभिवृद्धि हुई है। उदाहरणार्थ—

या तो कहूँ सिख मान भटू यह हेरनि ही **पैंड परैंगी।**

में पैंड परैंगी का पीछे पड़ने के रूप में प्रयोग हुआ है। सखी को समझाने का काम तो और तरह से भी संभव था, पर यह देखना तेरे ही पीछ पड़ जावेगा, से वह शायद देखना छोड़ दे। वास्तव में इस प्रयोग से उसमें दुगना बल आ गया है।

यह रसखानि दिना द्वै बात फैलि जैहें
कहाँ लौं सयानी **चँदा हाथन छिपाइबो।**
आँख सौं आँख लड़ी जबहीं, तब से ये रहैं असुवा रंग भीनी।
नेम कहा जब प्रेम कियो, अब नाचिये सोई जो **नाच नचावे।**

इनमें 'हाथों से चाँद छिपाना', आँख से आँख लड़ना, और 'नाच नचाना', प्रसिद्ध मुहावरे हैं जिनके प्रयोग से रचना में दुगना बल और प्रवाह आ गया है। लोकोक्ति का एक उदाहरण देखिये—'**जो कोई चाहै भलो अपनो तो सनेह न काहू सों कीजिये माई।**' कुछ लाछणिक प्रयोग भी मिल जाते हैं, पर अधिक नहीं, पर जो भी हैं, अवश्य सुन्दर हैं। जैसे—'**तान सुनी जिनहीं तिनहीं तबहीं तिन लाज बिदा करि दीनी।**' 'लाज को विदा करना' लाक्षणिक प्रयोग है।

ब्रजभाषा कवियों में रसखान का नाम इस दृष्टि से निस्सन्देह ऊँचा है कि उन्होंने बहुत ही सुन्दर और सुव्यवस्थित भाषा में अपने काव्य की रचना की। उनकी भाषा में जैसी मिठास, जैसी सरलता, जैसी स्वाभाविकता, जैसी सरसता और जैसी प्रवाहात्मकता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। भाषा के रूप को सँवारने में भी उनका बहुत बड़ा हाथ था। इसीलिए एक आलोचक के अनुसार—"ब्रजभाषा कवियों में जहाँ तक ब्रजभाषा की मृसणता तथा सौन्दर्य का सम्बन्ध है, मतिराम आदि एकाध कवियों को छोड़कर रसखान से बढ़कर अच्छी भाषा लिखने वाला कोई भी कवि नहीं है। भावगाम्भीर्य, भाषा-प्रवाह, सरसता एवं सौष्ठव का एकत्र संगम रसखान के कवित्त और सवैयों में भलीभाँति देखा जा सकता है।"

अलंकार—अपने प्रेम राज्य में लीन रहते हुए भी रसखान का काव्य अलंकारों से सहज ही आभूषित है। उनका अलंकार-प्रयोग उनके काव्य में सरसता

और सहजता में अभिवृद्धि ही करता है। रसखान के काव्य में अलंकार उनके काव्य की शोभा बनकर आये हैं और वे रसोद्रेक में सहायक हुए हैं। अलंकारों की ओर न ध्यान देते हुए भी उनकी रचना में अलंकार आ गये हैं जिनमें अनुप्रास मुख्य है। रसखान की रचना में रूपक, यमक, उपमा आदि के उदाहरण मिल जायेंगे, किन्तु अनुप्रास प्रायः प्रत्येक छन्द में है, जिससे भाषा में अद्भुत सौन्दर्य तथा प्रवाह आ गया है। अनुप्रास अलंकार की भरमार भी कवि की रचना में कहीं कर्कशता नहीं लायी।

रसखान के काव्य में आधुनिक छायावादी काव्य का लाड़ला अलंकार मानवीकरण (Personification) का भी मधुर मोहक प्रयोग मिलता है। इसी प्रकार अमूर्त्त भावों के मूर्तिकरण में भी रसखान छायावादी काव्य की सी छबि दे जाते हैं।

'व्याकुलता निरखै बिन मूरति भागति भूख न भूषन।'

जो कुछ अलंकार उसके काव्य में दीख पड़ते हैं वे अनायास ही उसके काव्य में आविरोज हैं। कहीं-कहीं तो उसकी ऐसी कविताओं में जिनमें भाव प्रकाशन अत्यन्त सहज और स्वाभाविक रूप से हुआ है तथा अभिव्यक्ति में भी किसी प्रकार की निपुणता नहीं बरती गई है वहाँ भी अलंकार खोज लिए गए हैं। रसखान का एक प्रसिद्ध छद है जो अपनी भाव-माधुरी के कारण अत्यन्त लोकप्रिय है—

"मानुष हौं तौ वही रसखान बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हौं तौ कहा बसु मेरो चरौं नित नंद की धेनु मंझारन॥
पाहन हौं तौ वही गिरि कौ जो धर्‌यो कर छत्र पुरन्दर कारन।
जो खग हौं तौ बसेरो करौं मिलि कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन॥

भाव को सहज और निष्कपट अभिव्यक्ति से यह स्पष्ट ही मालूम पड़ता है कि कवि किसी अलंकार के प्रयोग करने की ओर सचेष्ट नहीं है फिर भी आलोचकों ने यहाँ अनुज्ञा नाम के अलंकार को खोज ही लिया है। अनुज्ञा अलंकार वहाँ होता है जहाँ किसी उत्कृष्ट वस्तु को प्राप्ति हेतु निकृष्ट वस्तुओं को भी ग्रहण किया जाये। जैसे यहाँ कवि ने उत्कृष्ट वस्तु श्रीकृष्ण की प्राप्ति के लिए निकृष्ट वस्तु पत्थर आदि तक बनना स्वीकार कर लिया है।

छन्द—रसखान के समय में भक्त कवियों में गीत रचना की प्रणाली प्रचलित थी। छन्द-प्रयोग की दृष्टि से भी रसखान की स्वच्छन्द वृत्ति का परिचय मिलता है कि उन्होंने गीतों की परम्परा को नहीं अपनाया और न ही प्रबन्ध परम्परा का ही अनुकरण किया। सूर ने भगवान कृष्ण की जीवन लीला को गीतों में ढाला था पर तुलसी ने प्रबन्ध रचना द्वारा युग को प्रबन्ध रचना प्रणाली की ओर आकर्षित किया था परन्तु स्वच्छन्द धारा के कवि अन्तर्मुखी होने के नाते मुक्तक पदों की रचना की ओर ही अधिक झुकते थे। इसका कारण भी है कि प्रबन्ध रचना में हृदय तथा बुद्धि पक्ष की समता, जीवन की विभिन्न विषमताओं का सामंजस्य अपेक्षित होता है जहाँ

कि स्वच्छंद प्रवृत्ति में भावातिरेक सर्वप्रधान होता है इसी से भावाभिव्यक्ति के लिये फुटकर रचना अधिक उपयुक्त ठहरती है। छंद भी भावानुकूल होते हैं और भाव अपने लिये अनुकूल छंद आप चुन लेते हैं। रसखान कोमल भावनाओं और उदात्त वृत्तियों के अमर गायक हैं। मानव जीवन की कोमल एवं उदात्त भावनाओं के वर्णन के लिए उन्होंने तदनुकूल छंद भी चुना। रसखान ने कवित्त, सवैया और दोहा छंद अपनाये हैं। उनके सवैया मत्तगयंद तथा कवित्त मनहरण रहे हैं। मत्तगयंद सवैये के प्रत्येक चरण में सात भगण (ऽ।।) और दो गुरु मिलाकर कुल २३ वर्ण होते हैं और कवित्त मनहरण में १६ और १५वें वर्ण पर यति होती है। मत्तगयद सवैये की गति वास्तव में मस्त हाथी की भाँति मस्तानी ही हुआ करती है और कवित्त मनहरण अगर मन का हरण न करें तो उन्हें कवित्त मनहरण ही कौन कहे। इन दो छंदों से हमारे कवि ने वास्तविक ढंग से उड़ेलने वाले कवि के लिये सवैया छंद बहुत ही अनुकूल पड़ता है। सवैया छंद में भावों के अनुरूप ढलान होती हैं, बाह्य सौन्दर्य कम। हमारे कवि ने इस छंद को अपनाकर अपने अन्तर्मुखी प्रवृति का ही परिचय दिया है, जो कि स्वच्छंद मार्ग का बड़ा व्यापक लक्षण है। कवि ने छंद सौष्ठव का सहज निर्वाह किया है। उसके लिए उसे बहुत बार शब्दों के रूप में परिवर्तन भी करना पड़ा है। परन्तु इस रूप परिवर्तन से कहीं भी विकृति या विरुपता नहीं आ पाई है। उन्होंने छंद-विधान के समय सगीत को भी साधक बनाया है, इसीलिए उनके बहुत से सवैये और कवित्त गेयात्मक गरिमा से भी मंडित हैं।

घनानन्द

रीति-स्वच्छंद कवियों में घनानन्द सिरमौर माने जाते हैं। रीतिकाव्य परम्परा से मुक्त स्वच्छंद प्रेम के कवि वे माने जाते हैं—यह स्वीकृत तथ्य है, तथापि उनके काव्य में रीति काव्य का प्रभाव भी एक विशिष्ट भाव-सृष्टि करने में समर्थ सिद्ध होता है। रीतिकालीन काव्य का विकास दरबारी वातावरण में हुआ। रीतिकाल के कवि और आचार्य दोनों ही किसी न किसी राज्याश्रय को पाकर ही काव्य माधुरी प्रवाहित कर सकते थे। घनानन्द के बारे में भी कहा जाता है कि वे मुगल बादशाह मुहम्मदशाह रंगीले के दरबार में रहे थे और वे वहाँ मीरमुंशी के पद पर तैनात थे। उसी दरबार में उनका प्रेम सुजान नामक नर्तकी से हुआ। उसी दरबारी वातावरण में सुजान के निर्दयी व्यवहार से कवि के कोमल हृदय को ठेस पहुँची और वेदना का बोझिल संसार हृदय में बसाये उन्हें वृन्दावन चले आना पड़ा। दरबारी वातावरण में कवि के हृदय में सुजान के प्रति जिस प्रेम के बीज का वपन हुआ, वही कालान्तर में पल्लवित-पुष्पित होकर उनके काव्य का शृंगार बना। यही प्रेम उसे कवि बनाता है। प्रेम का यही आघात उसकी समस्त शिराओं को झनझना कर उससे महान् कविता की सृष्टि करवाता है। प्रेमजनित विरह के हलाहल को पीकर ही कवि जीवन के निगूढ़ रहस्यों को समझने-परखने की चेष्टा करता है और अन्ततः राधा-कृष्ण के युगल-वन्दन में अपना सर्वस्व समर्पित कर देता है। यही कारण है कि घनानन्द के काव्य में जहाँ एक ओर वैयक्तिक प्रेम की कातर पुकार है, वहाँ दूसरी ओर राधा-कृष्ण के दिव्य प्रेम की सरस झाँकियाँ भी हैं। यों, उनके भाव उनके भाव-जगत में लौकिक-अलौकिक प्रेम का गंगा-जमुनी अपूर्व संगम दृष्टिगत होता है।

सुजान की बेवफाई से मर्माहत होकर कवि अपना सारा ध्यान राधा-कृष्ण के दिव्य प्रेम की लीलाओं में केन्द्रित करना चाहता है किन्तु प्रेम का वह गहरा रंग यों आसानी से छूटने वाला थोड़े ही है। राधा-कृष्ण के दिव्य प्रेम के स्मरण-वन्दन से उसे शान्ति मिलती तो है किन्तु उसके मन का प्रेमजनित हाहाकार फिर उसे बेचैन कर देता है। घनानन्द अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में भी **'दिलपसन्द दिलदार यार'** की याद करते रहे, यद्यपि **'हलधर दे वीर'** और **'महबूब नन्द दे'** के साथ भी उनकी पटरी पूरी तरह से बैठ गई थी। **'चन्दा गोविन्द सुनन्द दे घन आनन्द-कन्दा'** के गीत लिखने वाले घनानन्द सचमुच ही राधा-कृष्ण के प्रेम में अपने को डुबो देने की कामना करते हैं।

कृष्ण को शृंगार पक्ष में नायक और भक्ति पक्ष में प्रभु रूप माना गया। कृष्ण और नायक का एकीकरण रीतिकालीन काव्य-परम्परा की एक महत्वपूर्ण विशेषता है, जो घनानन्द में भी पूर्णरूपेण विद्यमान है और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन कुछ अंशों में युक्तिसंगत जान पड़ता है कि इनकी अधिकांश कविता भक्ति काव्य की कोटि में नहीं आयेगी, शृंगार की कही जायेगी।

घनानन्द की इस शृंगार भावना में प्रारम्भ में तो ऐहिकता और ऐन्द्रिकता की झलक मिलती है जो इन्हें रीतिकालीन परिवेश से जोड़ती है किन्तु बाद में वह अधिकाधिक कोमल, सूक्ष्म और अंतर्मुखी होती जाती है और वहीं घनानन्द का मौलिक मधुर स्वरूप भी साक्षात्कार होने लगता है।

घनानन्द यद्यपि 'रोमांटिक' श्रेणी के आधुनिक कवियों की भांति स्वच्छन्दतावादी नहीं कहे जा सकते, किन्तु फिर भी जहाँ तक समाज और साहित्य के बन्धनों को स्वीकार न करने का प्रश्न है—उन्होंने बड़े साहस और दृढ़ता के साथ उन्हें अस्वीकार किया है। ठाकुर कवि ने रीतिकालीन कवियों पर जो आक्षेप किया था कि गिने-चुने उपमानों के साथ कवित्त बनाकर सभा के बीच में आकर सुना देना वास्तविक कविता नहीं है, वह इन स्वच्छन्दतावादी कवियों की ओर से पुरातनपंथी कविता के प्रति अपने आक्रोश का ही प्रकाशन था। स्वयं घनानन्द ने प्राचीन कवियों के प्रति आक्रोश व्यक्त करते हुए कहा कि जो कवि 'प्रेम नेम हित चतुराई' का मन में तनिक विचार नहीं करते, उनके पास क्षण भर भी नहीं ठहरना चाहिए। ब्रजनाथ ने उनकी कविता के सम्बन्ध में घोषणा की है—

'नेही महा ब्रजभाषा प्रबीन औ सुन्दरतानि के भेद को जानै।
जोग वियोग की रीति में कोविद भावना भेद स्वरूप को ठानै।
चाह के रंग में भीज्यौं हियो बिछुरे मिले प्रीतम सान्ति न मानै।
भाषा प्रवीन सुछन्द सदा रहै सौ घन जी के कवित्त बखानै।

इनमें निम्नलिखित गुणों का समावेश हुआ है—१ महानेही, २. ब्रजभाषा में निपुण, ३. सौन्दर्य के भेदोपभेदों का ज्ञाता, ४. संयोग और वियोग के शास्त्रों का जानकार, ५ भावों की विभिन्न दशाओं और उनके स्वरूपों का ज्ञान रखने वाला, ६. हृदय को चाह अथवा अभिलाषा के रंग से विभोर रखने वाला, ७ बिछुड़ने और मिलने—दोनों ही स्थितियों में व्याकुलता का अनुभव करने वाला, ८. भाषा में प्रवीण (अन्य भाषाओं की कविता का भी ज्ञाता), और ९. स्वच्छन्द रहने वाला।

उपर्युक्त छन्द में वर्णित घनानन्द की कविता के गुणों को देखने पर सहज ही उन्हें रीतिकालीन कवियों से पृथक किया जा सकता है। रीतिकालीन कवियों में सामान्यतः हमको अग्रलिखित बातें ही मिलती हैं—

(१) केवल शृंगार रस का—संयोग और वियोग की दृष्टि से वर्णन, अभिप्राय यह है कि संयोग में सोलह आने संयोग का वर्णन और वियोग में सोलह आने वियोग का वर्णन। (२) नारी के बाह्य सौन्दर्य के प्रति अनुराग और केवल भोग पक्ष की प्रधानता। (३) उस वर्णन में तटस्थता अर्थात् वैयक्तिकता की कमी। रीतिकालीन कवि का प्रेम अपना न होकर राधा-कृष्ण के बहाने नायक-नायिका का प्रेम है जो या तो दूती द्वारा निवेदित है या सखी के द्वारा वर्णित। (४) रीतिकाल में उपमान एक विहित परिपाटी रूप में ही लाये गये हैं, उसमें बौद्धिकता का समावेश अधिक है, अनुभूति का कम। इसे यों भी कह सकते हैं कि उसमें हृदय का योग नहीं है। (५) वह प्रेम परकीया के प्रति अधिक है और उसमें गार्हस्थिकता बनी है अर्थात् नायिका नायक से मिलने में सास-ननद का देवरानी-जेठानी का और गुरुजनों का भय सदैव अनुभव करती है। (६) रीतिकालीन प्रेम में मान, अभिसार आदि कृत्रिम साधनों से उसे साहसिकता दी जाती है। (७) रीतिकालीन प्रेम में ऊहात्मक पद्धति का आश्रय अधिक लिया गया है। बिहारी की नायिका इतनी सुन्दर है कि शोभा के भार ही से सीधे पैर नहीं रख सकती और वियोग उसका इतना तीव्र है कि जाड़े की रात्रि में भी गीले वस्त्रों को आगे रखकर साहसपूर्वक सखियाँ उसके पास जाती हैं या गुलाब की शीशी बीच में ही सूख जाती है। रीतिकालीन प्रेम में शैथिल्य और प्रमाद की-सी अवस्था रहती है, फिर भी उसमें तीव्रता नहीं आ पाती। कवि का लक्ष्य नायिका-भेद के निरूपण या रसावयवों के विवेचन पर अधिक रहता है, अनुभूति की तीव्रता कम ही दिखायी देती है।

घनानन्द का प्रतिपाद्य

प्रेम प्राणवत् घनानन्द के जीवन और काव्य में समाया हुआ है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जो प्रेमविहीन हैं, वे जड़ता से घिरे हैं, बुद्धि से हीन हैं, ठण्डे दिल के हैं, उनकी आँखें निर्जीव हैं, वह शुष्क प्रेम का वर्णन करने वाले हैं और वह मिलन बिछोह का ज्ञान नहीं रखते। घनानन्द का तो सम्पूर्ण जीवन प्रेम के प्रकाश से ही आलोकित था। प्रेम में ही उन्हें जीवन की सार्थकता मालूम पड़ती थी। वे प्रेम के बिना जीवन को अन्धकारमय ही मानते थे। कॉडवेल के शब्दों में कहें तो प्रेम ही उनके लिए ईश्वर था और ईश्वर ही प्रेम (Love is God and God is love)। प्रेम के प्रति उनकी आस्था ऐसी ही है—

एकै आस एकै विश्वास प्रान गहै बास
और पहिचान इन्हें रही काऊ सौं नहैं ॥

एक आलोचक के अनुसार—"वहाँ तो (कदाचित् उस लोक में) प्रेम का अपार पारावार लहराता हुआ गरज रहा है। उसी की तरल तरंगों से पूरा हुआ प्रेम का एक कण इस सृष्टि में आ गिरा जिससे लोक-लोक पूर्ण हो उठे हैं, उमड़ और

उफन उठे हैं। वही प्रेम कण है जो प्रेम का महोदधि होकर लोक-लोकों को आप्लावित किये हुए है।"

मुख्यतः घनानन्द विरह के कवि हैं तो भी उनके काव्य में संयोग शृंगार की छवियाँ अंकित हुई हैं। घनानन्द ने संयोग-वर्णन के क्रम में पूर्व-सम्भोग, सम्भोग और पर-सम्भोग तीनों ही स्थितियों का बड़ा ही सजीव चित्र प्रस्तुत किया है। घनानन्द के संयोग-वर्णन में एक बात ध्यान देने योग्य है और वह यह कि इनके कुछ छन्दों में सम्भोग के मादक सुख की स्मृतिपरक व्यंजना हुई है—

मीत सुजान मिले को महासुख अंगनि भोय समोय रह्यौ है।
स्वाद जगे रस-रंग-पगे अति, जानत वेई न जात कह्यौ है।
द्वै उर एक भए घुरि कै घनआनन्द सुद्ध समीप लह्यौ है।
रूप अनूप तरंगनि चाहि तऊ चितचाह-प्रवाह वह्यौ है॥

यद्यपि घनानन्द के इस प्रकार के छन्दों में ऐन्द्रिक तृषा तथा वासना का भावोच्छ्वास दिग्दर्शन होता है, पर वह पूरी की पूरी कामुकता से परिवेष्टित नहीं है। इसे भावना का उद्रेक ही कहा जा सकता है और यही उद्रेक घनानन्द के ऐन्द्रिक भाव-विलास को आगे चलकर भक्ति-सौजन्य की परिणति देता है।

घनानन्द ने जिस संयोग-शृगार का वर्णन किया है वह सर्वथा विशिष्ट है। इनके संयोग में भी वियोग की धूमिल रेखा बनी रहती है। मिलन में भी 'बिछोह की भड़क' बनी रहती है। इसलिए घनानन्द का संयोग प्रेम का चित्रण रीतिकालीन कवियों की उस सम्भोगावस्था से भिन्न है जिसमें बिहारी ने 'अनबूड़े बूड़े तरे जे बूड़े सब अंग' कहकर मोक्ष का मार्ग दिखा दिया था। सयोग सुख से परितृप्त रहने पर भी वे सुख की नींद में भी वियोग की आशंका से जागते रहते हैं—

सोए हैं अंगनि अंग समोए सु भोए अनंग के रंग निस्यौं करि।
केलि-कला-रस-आरस-आसव-पाव-छके घनआनन्द यौं अरि।
पै मनसा मधि रागत पागत लागत अकनि जागत ज्यौं करि।
ऐसे सुजान विलास निधान हौ सोएँ जगे कहि व्योरियै क्यों करि॥

घनानन्द की प्रेमानुभूति की यही मुख्य विशेषता है कि वे संयोग में भी वियोग के व्यथा-भार को अपने कन्धों पर उठाये रहते हैं। उनकी 'बिछुड़े मिलै प्रीतम सांति न मानें' की सदा रहने वाली बेचैनी उन्हें विशिष्टता प्रदान कर देती है। उनका ससार प्रेम का ही है। डॉ० ओमप्रकाश ने इस सम्बन्ध में लिखा है—"घनानन्द का प्रेम निभृत है, उसमें ससार या समाज न बाधक है और न साधक, प्रेमी और प्रेम पात्र दो से ही दुनिया आबाद है, न परिजन-पुरजन हैं, न दूती-सखी, इसलिए न चवाव है और न सहायता।"

घनानन्द स्वयं नहीं समझ पाते कि इस संयोगागत वियोग का कारण क्या है। यही कारण है कि उन्हें कहना पड़ता है—

यह कैसो सयोग न जान परै जु वियोग न क्यों हूँ बिछोहत है।

इस प्रकार की अभिव्यंजना का एक मूल कारण है—प्रेमातिशयता । जब प्रियतम के प्रति प्रेमी के अन्तर्मन में प्रेमाधिक्य का संचरण होता है तब यह संयोगावस्था में वियोग की आशंका से व्याकुल हो उठता है । यही स्थिति घनानन्द की भी है । वे इतने प्रेमासिक्त हैं कि उन्हें संयोग अवस्था में भी संयोग परिज्ञान नहीं हो पाता और यदि होता भी है तो उनका वियोग की आशंका से विगलित हृदय उन्हें विकल बना देता है ।

घनानन्द प्रेम-पन्थ के ऐसे धीर पथिक हैं जो बिना किसी बाधा की परवाह किये हुए अविचल भाव से प्रेम-पन्थ पर बढ़ते ही जाते हैं । वे प्रेम की वेदी पर अपना सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए उतावले दीखते हैं । प्रियतम की याद में ही पल-पल बिताते हुए कवि को विकलता में ही आनन्द मिलता है । जैसे तपस्वी को ससार की कोई भी बाधा तपस्या से डिगा नहीं पाती, उसे तो तपस्या में ही आनन्द मिलता है, वैसे ही कवि को प्रेम-साधना में कितने ही कष्ट उठाने पड़ते हैं तो भी वह उसी में आनन्द पाता है । जैसे साधक को अपने साधना-मार्ग में निरन्तर कठिनाइयों से जूझना पड़ता है वैसे ही प्रेमी को प्रेम-पन्थ में निरन्तर कष्ट उठाना पड़ता है । सच्चे प्रेमी को विरहाग्नि में निरन्तर तपना पड़ता है । प्रेम में वियोग अनिवार्य और यह वियोग ही प्रेमी के जीवन को पीड़ामय बना देता है । जो इस पीड़ा को सह सकता है वही इस पन्थ पर चल सकता है, यहाँ उसे अपना सब कुछ विस्मृत करना होता है, सर्वस्व समर्पित करना होता है, सब कुछ भूलकर सिर्फ प्रेमी में लीन हो जाना होता है । तभी तो घनानन्द ने कहा है—

"तहाँ सांचे चलें तजि आपुनपौ झिझकै कपटी जे निसाँक नहीं ।"

काव्य के मर्मज्ञ रामधारीसिंह 'दिनकर' के शब्दों में—"घनानन्द के पास शब्दाडम्बर नहीं, क्लिष्ट कल्पना नहीं, पांडित्य और आचार्यत्व नहीं, जो है वह केवल प्रेम की अनुभूति है । उन्होंने सौन्दर्य देखा था और प्रेम किया था । और अन्त में, विरह की दुस्सह वेदना भी भोगी थी । और इन तीनों की अनुभूति उनकी कविता में विद्यमान है ।..........और विरह तो घनानन्द की पूंजी ठहरा । विरह के जो स्वर उनके हृदय से निकले हैं, वे रीतिकाल में दुर्लभता से मिलते हैं । रीतिकाल की बौद्धिक विरहानुभूति की निष्प्राणता और कुण्ठा के वातावरण में घनानन्द की पीड़ा की टीस सहसा ही हृदय को चीर देती है और मन सहज ही यह मान लेता है कि दूसरों के लिए किराये पर आँसू बहाने वालों के बीच यह एक ऐसा कवि है जो सचमुच अपनी ही पीड़ा से रो रहा है ।'

घनानन्द के प्रेम की अनन्यता ऐसी है कि प्रेमी के लाख उपेक्षा करने पर भी वह किसी और का ध्यान नहीं करता । विश्वासघाती सुजान के निर्मम व्यवहार के बाद भी उसके प्रति उसकी आसक्ति प्रबल है । स्नेह के युद्ध-क्षेत्र में अपनी जीवन की भस्म उड़ा देना और शीश पर आरा चला देना भी कवि के लिए सामान्य बात

है। जैसे आधुनिक स्वच्छन्दतावादी कवि प्रसाद भी प्रेयसी को छलना समझते हुए भी उसमें अगाध आस्था रखते हैं—

"छलना थी फिर भी मेरा
उसमें विश्वास घना था।
उस माया की छाया में
कुछ सच्चा स्वयं बना था॥

ऐसे ही घनानन्द को अपनी सुजान में अगाध आस्था है, यद्यपि वे जानते हैं कि वह विश्वासघात करने से भी नहीं चूकती। किन्तु घनानन्द तो प्रेम करने में विश्वास करते हैं—इसके अतिरिक्त न तो वे किसी प्रकार का छल करना जानते हैं, और न प्रपंच —

घनआनन्द प्यारे सुजान सुनो यहाँ एक तैं दूसरो आंक नहीं।

रीतिकालीन कवियों में यदि कहीं नायिका ने दृढ़ता दिखायी है तो वह केवल मान तक ही सीमित है। बहुत-से-बहुत सौत के ऊपर प्रहारों की बौछार दी गयी है। घनानन्द ने कहीं भी इस सौतिया-डाह का परिचय नहीं दिया।

घनानन्द के प्रेम में दो तत्वों की विशेष रूप से प्रधानता है—एक तो वह प्रेम प्रथम-दर्शन का है, प्रियतम के दर्शन से ही घनानन्द की अवस्था यह हो गयी है जो चिरकाल तक साथ रहने वाले प्रियतम के वियोग में होती है। दूसरी बात है अभिलाषा या चाह की प्रधानता। प्रेम की अनन्यता यही है जहाँ योग में भी वियोग की वृत्ति बनी रहे—'योगे वियोग वृत्तिः।' घनानन्द के एक-एक बूंद में प्रियतम के देखने की लालसा निहित है। इस लालसा के कारण उन्होंने एक ओर अपने प्राणों को व्यथित दिखाया है जो जीवन और मृत्यु के बीच झूलते रहते हैं और दूसरी ओर नेत्रों को ज्वालामय दिखाया है जो 'उपरानि से बसै हैं, और 'उघरे' बरसते हैं। रीतिकालीन कवियों में भी प्रेम की अनन्यता का भाव है, परन्तु घनानन्द की अनन्यता भक्तों की अनन्यता का स्पर्श करती है। उस अनन्यता के कारण घनानन्द अपने प्रियतम की निष्ठुरता का बार-बार चित्रण करते हैं। उपालम्भ देते हुए घनानन्द ने बार-बार प्रिय की विस्मरणशील वृत्ति पर आघात किया है।

वियोग तो जैसे घनानन्द के प्राणों का संगीत है। श्रृंगार का यह वियोग-पक्षीय वर्णन तो इनकी विरह-व्यथा की शब्दांकित जीवनी है। इनकी विरह-व्यथा तो सागर के समान गहरी और अनन्त है। इनकी व्यथा की पहिचान के लिए 'हिय आँखिन' की अपेक्षा है। घनानन्द के काव्य में वियोग का जैसा मर्मस्पर्शी चित्रण हुआ है, वह उनको समकालीन कवियों से सर्वथा पृथक कर देता है। उन्होंने वैष्णव भक्तों से अनन्यता, सूफियों से प्रेम की पीर और फारसी के कवियों से प्रिय कठोरता का तत्व लेकर अपने काव्य का प्रासाद खड़ा किया है। विरह की महत्ता इन तीनों ही सम्प्रदाय के कवियों में मानी गयी है।

वियोग तो उन्हें संयोग के प्रथम क्षण से ही मिल गया है—उनका चिर सहचर बन गया है—

"जबते निहारे घनआनन्द सुजान प्यारे
तब तें, अनोखी आगि लगि रही चाह की।"

घनानन्द में उस विरह के कारण सूक्ष्मता और मार्मिकता है। भावों की सूक्ष्मता के लिए—'कृपाकान मधि नैन ज्यों, त्यों पुकार मधि मौन' दोहे का अर्धांश ही पर्याप्त है। सच्चा प्रेम वही है जो मौन की व्यथा को मुखरित कर दे। घनानन्द में रीतिकाल से एक और भिन्नता है कि वहाँ नायिका की कठोरता का अधिक वर्णन किया गया है। यहाँ नायक ही कठोर है। प्रसाद की भाँति उन्होंने स्त्री को भी पुरुष रूप में सम्बोधित किया है और पंत की भाँति कहीं वे स्वयं भी स्त्री बन गये हैं। कुछ लोगों का कथन है कि घनानन्द ने अपने कृष्ण-सम्बन्धी पदों मे अपने को निम्बार्क सम्प्रदायान्तर्गत सखी सम्प्रदाय का माना है। परन्तु हमारा ऐसा विश्वास है कि घनानन्द दीक्षित होने से पहले ही विरह की कारुणिक दशा को स्त्री-रूप में व्यक्त करने लगे थे, जैसा कि बहुधा प्रेमी करत रहते हैं।

विप्रलम्भ शृगार पूर्वराग, मान, प्रवास और करूण चार प्रकार का माना गया है। घनानन्द मे पूर्वानुराग के वर्णनों का आधिक्य पाया जाता है। पूर्वानुराग के वर्णन में उसकी दशाओं का भी चित्रण किया है जिनमें अभिलाषा, स्मरण और गुणकथन आदि विरह दशाओं का समावेश अपक्षाकृत अधिक हुआ है। अभिलाषा ही विरही को विरहाग्नि में संतृप्त होने को बाध्य करती है। आशा की समाँ में बंधकर विरही और अधिक व्याकुल होता है। घनानन्द के अभिलाषा-वर्णन के क्रम मे दो प्रकार की अभिलाषाएं सामने आती हैं—एक दर्शन की लालसा तथा दूसरी सामीप्य-लाभ की दर्शन-लालसा से व्यथित आँखें उद्वेलित रहती हैं।

अभिलाषाओं के बाद घनानन्द के काव्य में स्मरण अर्थात् स्मृतिजन्य विरह-वेदना की अभिव्यक्ति हम पाते हैं। स्मरण की दशा पूर्वानुराग की महत्वपूर्ण दशा है जिसमें विरही हृदय अपने प्रियतम की स्मृति में ही घुटता रहता है। प्रिय की इस प्रकार की स्मृति घनानन्द के सम्पूर्ण काव्य में ही वर्णित है।

विरहाकुल हृदय मात्र अपने प्रिय की निष्ठुरता की ही ओर उन्मुख नहीं होता बल्कि अपनी विरहाग्नि-ज्वाला को प्रशमित करने के उपचार-क्रम में प्रिय के गुणों का कथन भी करता है। प्रिय का यह गुण-कथन उसकी ऐसी मनोदशा के रूप में परिवर्तित हो जाता है जिसमें वह विदग्धातिरेक का अनुभव करता है।

विशेषता यह है कि जैसे सूर ने वंशी और नेत्रों पर अनेक उद्भावनाएँ की हैं और वे भावनाएं निरन्तर आवृत्ति के होते हुए भी रसहीन नहीं होतीं उसी प्रकार घनानन्द ने अपने हृदय की व्यथा का और प्रियतम की निर्ममता का जो बार-बार भिन्न-भिन्न प्रकार से स्पष्टीकरण किया है वह नीरस नहीं होता वरन् उसमें जिस

खीझ की व्यजना होती है वह हिन्दी साहित्य की निराली वस्तु जान पड़ती है। घनानन्द की खीज उस समय और व्यथामयी होती है जब वह कहते हैं कि हे प्रिय ! तुम्हारे लिए मैंने संसार छोड़ दिया फिर भी तुम निष्ठुर हो गये। तुम्हें मेरी व्यथा तब समझ में आयेगी जब तुम क्षण भर के लिए अपने से अलग होंगे।

अन्तर्दशाओं में सन्देश का तत्व भी महत्वपूर्ण है। कभी वे सोचते हैं कि सन्देश भेजा ही न जाय, क्योंकि प्रिय अपने सुख में मग्न है, पर कभी-कभी जी नहीं मानता तो बादल से— कबहूँ व विसासी सुजान के आँगनि मो अंसुआन को लै बरसौ' कहकर, या पवन से 'धूरि तिन पायनि की हा हा नेकु आनि दै', कहकर दैन्यमिश्रित सन्देश भेजते हैं। अन्तर्दशाओं में विरही की स्थिति का करुण चित्र भी घनानन्द ने बार-बार खीचा है।

विरह की मरण दशा की व्यंजना भी घनानन्द ने की है। घनानन्द के प्राण केवल इसीलिए ठहरे हुए हैं कि प्रियतम का सन्देश मिल जाय अन्यथा वे नयनवाणों से बिंध कर सिसक रहे हैं। समस्त शरीर में विष व्याप्त हो गया है। प्रियतम जो सब जानते हुए भी अनजान बन गये हैं, उनका सन्देश भर मिल जाय, यही एकमात्र आशा है। प्राण जीवन और मृत्यु के बीच में झूलते रहते हैं। स्वयं अपनी बात किसी के द्वारा कहलाने की सामर्थ्य भी नहीं है। जिस प्रकार से दिन-रात बीतते हैं, उसका व्यक्त करना असम्भव है। चिन्ता से जलना और अचम्भे से किंकर्तव्यविमूढ़ बने रहना ही भाग्य में शेष रह गया है। इस प्रकार घनानन्द में परम्परा से भिन्न इतनी स्थितियाँ और भावों के चित्र हैं कि उनका नामकरण भी नहीं किया जा सकता। घनानन्द के आधार पर ही उनका नामकरण किया जाय तो उनकी व्यंजना समझ में आ सकती है।

रीतिकालीन परम्परा के आलोक में जब हम घनानन्द को देखते हैं तो ये सबों से भिन्न प्रेम की पीर लिए हुए एक स्वच्छन्द वातावरण के निर्माण में तत्पर दीख पड़ते हैं। यद्यपि इनका वर्ण्य शृंगार ही है तथापि ये रीतिकालीन अन्य शृंगार-कवियों से एक कदम आगे दीखते हैं जहाँ शुद्ध प्रेम की स्रोतस्विनी प्रवाहित होती है। इन्होंने जिस शृंगार' और 'प्रेम' का निरूपण किया, वह अन्य कवियों से सर्वया भिन्न तथा चरमोत्कर्ष लब्ध है।

घनानन्द में यद्यपि एक मुक्तककार की आत्मा बोलती है, आरम्भिक जीवन में सुजान के प्रति और निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षा लेने के बाद कृष्ण के प्रति उनकी जो अनन्यता है वह एक महाकवि की भाँति पाठक को सन्देश भी देता है। जैसे महाकवि के काव्य में एक व्यापक और सांस्कृतिक सन्देश होता है वही घनानन्द के काव्य मे भी है। वह सन्देश विरह का है। अश्लीलता और शारीरिकता न होने के कारण कहीं भी उनकी व्यंजना में छिछलापन नहीं आ पाया है, कहीं कहीं फारसी कवियों जैसी ऊहात्मक व्यजना होते हुए भी उनका हृदय सर्वत्र बोलता दिखायी

पड़ता है। रीतिबद्ध एवं रीतिसिद्ध कवियों की तरह शृंगार और प्रेम के नाम पर इन्होंने न तो पाठकों को वासना की वीथियों में भटकाया है और न भक्त कवियों के समान उस प्रेम को अध्यात्मपरक बनाकर सर्वथा आलौकिक और अशरीरी ही बनाया है। वह न तो रीतिकाल के अन्य कवियों के समान घोर शारीरिक है और न भक्त कवियों के समान एकदम अध्यात्म-लोक की उड़ान। उनमें जो कुछ भी है वह उनके व्यक्तिगत जीवन का अनुभूत 'सत्य' है जो 'सौन्दर्य' से उद्भूत हुआ है और अन्ततः 'शिवम्' की परिणति पाकर लोकमांगलिक सौन्दर्य को प्रसारित करता है। प्रेम में जो तल्लीनता उन्होने दिखायी है; वह पूर्ण ब्रह्म की सूचक है। प्रेम का यह प्रशस्त और पावन चित्रण साहित्य के दिग्भ्रमित पथिकों के लिए एक प्रकाश-स्तम्भ बन गया। उसमें मानव-हृदय की सबसे कोमल और सनातन वृत्ति—प्रेम की ऐसी सरस और सहज अभिव्यक्ति हुई है कि मानव मात्र अभिभूति हो उठता है।

शिल्प-विधान

रीतिकाल को कलाकाल की संज्ञा भी दी गयी है, अतः इस काल के कवि होने के नाते घनानन्द के काव्य में पूर्ण कला-वैभव मिलता है। वे परम भावुक तो थे ही, साथ ही वे भावाभिव्यक्ति की कला में अत्यन्त प्रवीण भी थे। यही कारण है कि हमें जहाँ उनके काव्य में भावों की गहराई मिलती है वहां शब्दों की पच्चीकारी, अंलकारों की सार्थक योजना तथा प्रसंगानुकूल छन्दों की योजना भी अपने उत्कर्ष के साथ मिलती है। घनानन्द का काव्य कला पक्ष की दृष्टि से अत्यन्त सफल माना जाता है। लगता है कि घनानन्द शब्दों के मर्म से तो अवगत थे ही, वे शब्दों में नये-नये तर्क भर देने की अपूर्व क्षमता भी रखते थे। अंलकार के प्रयोग में भी उनकी मौलिकता के दर्शन पग-पग पर होते हैं। एक कुशल कारीगर की भाँति वे छन्दों को जैसे तराशते हैं। उनके छन्दों को पढ़ने मात्र से ही ऐसा प्रतीत होता है जैसे हम किसी छोटी नौका में बैठकर आनन्द की धारा में बहे जा रहे हों। कवि ने अपनी कलात्मकता को उत्कृष्ट बमाने के लिये परिश्रम कर सजाया-सँवारा नहीं है, अपितु भावों के संवेग के साथ-साथ कलात्मक उपकरण मानो इसके साथ सामंजस्य स्थापित करने को अनायास ही उद्यत हो गये हैं। अतः इनकी कला श्रमसाध्य या कृत्रिम नहीं। कवि ने अपने काव्य में नये-नये उपमानों की योजना, अभिनव शब्द-विन्यास, भाव और भाषा का एकीकरण कर अपने कला-कौशल का परिचय दिया है जिसमें भावानुकूलता, प्रवाहात्मकता, लाक्षणिकता, सजीवता आदि सहज ही द्रष्टव्य हैं।

किसी विद्वान् ने ठीक ही कहा है कि 'घनानन्द की भाषा के विषय में कहना सूर्य को दीपक दिखाना है।' रीतिकालीन कवियों में मात्र बिहारी ही ऐसे कवि हैं जो इनकी समता में आ सकते हैं। यदि भावों की अपार राशि इनके पास है तो भाषा का अक्षय कोष भी। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी के शब्दों में—

"भाषा के विचार से तो रीतिबद्ध कवियों में से बहुत कम इनकी तुलना में टिक सकेंगे। घनानन्द और ठाकुर ने ब्रजभाषा को बहुत शक्ति दी। वाग्योग का ऐसा विज्ञान शब्दों का मनमाना और निरर्थक प्रयोग करने वालों में कहाँ ?........ घनानन्द की रचना में तो भाषा स्थान-स्थान पर अर्थ की सम्पत्ति से समृद्ध होकर सामने आती है। वाक्य-ध्वनि, पद-ध्वनि तो दूर रहे, इन्होंने पदांश-ध्वनि से भी जगह-जगह काम लिया है।" वस्तुतः इनकी भाषा में काव्यगत सारे गुण एक-एक कर सन्निविष्ट हैं। इनके भाषागत वैशिष्ट्य को निम्न शीर्षकों में देखा-परखा जा सकता है :

घनानन्द की भाषा में शब्दों का विन्यास बड़ा ही कौशलपूर्ण हुआ है। उन्होंने ब्रजभाषा के साथ खिलवाड़ न कर उसके मधुर, सहज एवं स्वाभाविक रूप को अपनाया है। साथ ही बोलचाल के शब्दों को साहित्यिक शब्दावली के निकट लाने का सफल प्रयास किया है। बिहारी, मतिराम, पद्माकर, सेनापति जैसे बड़े-बड़े कवियों को भी जिन शब्दों के प्रयोग का साहस नहीं हुआ या यों कहें कि जिस ओर उनका ध्यान नहीं गया, उन शब्दों को धड़ल्ले के साथ घनानन्द ने अपने काव्य में प्रयोग किया। उदाहरणार्थ, ब्रजभाषा में बोले जाने वाले इन ठेठ-शब्दों को लिया जा सकता है—

औड़ी (गहरी), आवस (भाप), उदेग (उद्वेग), भभक (ज्वाला), दुहेली (दुखपूर्ण), सौंज (सामग्री), सोवर (सूतिका-गृह), बधूरा (बवंडर), डेल (ढेला), आवरो (व्याकुल), तेह (क्रोध), न्यार (चारा), सल (पता, ज्ञान), बहरे (जंगल), चुहल (विनोद) आदि।

इन ठेठ ग्रामीण शब्दों का प्रयोग कवि ने अत्यन्त सटीक किया है जिससे साहित्यिकता में आँच नहीं आती। इन ठेठ शब्दों के प्रयोग से उनकी भाषा समृद्ध और समर्थ ही बनी है।

महाकवि ने नये और अप्रचलित शब्दों को भी अपनी काव्य-भाषा में स्थान दिया है जो सर्वथा उपयुक्त सिद्ध होते हैं। उदाहरणार्थ—

अँगेट, सौनि (कुन्दन का लाल वर्ण), अठवाई, खगे (लीन हो जाना), अखिल (अपरिचित), उझिल (ग्राम्य शब्द), ऊठ (उठान), गरैठी (टेढी), घनीन, डँडा (वाहु) रयौ, (लीन हो गया), गादरौ (शिथिल), डवा (थैला), निखरक (सूक्ष्म), उछाह (उल्लास), करौटनि, सरौटनि, खोहि (पत्तों की छतरी), मरक (खिंचाव); अझूनों (आग) आदि।

इस प्रकार के शब्दों के अभिनव प्रयोग से घनानन्द की भाषा में एक प्रकार की नवीनता पायी जाती है। ये शब्द भावों के वहन में अत्यन्त सक्षम एवं सदा अनुकूल हैं। कुछ शब्दों को घनानन्द ने अपने ढंग से भी बनाकर उसमें एक सजीवता ला दी है, जैसे—दिनदानी, दिनदिन, अबलोकिबो, देखिबोई आदि। शब्दों का यह

प्रयोग उनके अप्रतिम कला कौशल का परिचायक है। घनानन्द ने 'हरि,' धूमरि, रसमसे, चहकि, चोपचुहल, सुरझ-गुरझनि जैसे ध्वन्यात्मक शब्दों का निर्माण कर अपनी दक्षता का परिचय दिया है। इन्होंने काव्य में यत्र-तत्र शब्दों का रूपान्तरण भी किया है जिससे उन शब्दों में नयी प्राणवत्ता आ गयी है।

घनानन्द ने अभिधा, लक्षणा और व्यंजना, इन तीनों शब्द-शक्तियों को अपने काव्य के भाव-सम्प्रेषण के लिए सार्थक स्थान दिया है। अभिधा वह शब्द-शक्ति है जो वाच्यार्थ को प्रकट करती है। इस शब्द-शक्ति का प्रयोग हम दैनिक जीवन की बोलचाल की भाषा में भी करते हैं। अतः इसकी काव्यगत महत्ता उतनी नहीं है। घनानन्द ने इस अभिधा को एकदम निकृष्ट तो नहीं माना है तथापि उसके प्रयोग में उन्होंने विशेष अभिरुचि भी नहीं ली। उनके भक्ति सम्बन्धी प्रायः सारे पदों में अभिधा से ही काम लिया गया है। उदाहरणार्थ—

सुमरि मन हरिपद सांचौ रे।
झूठैं राचि वृथा कित धावैं डगमग खाँचौ रे।

अभिधा के माध्यम से कवि ने अपने भावों को अभिव्यक्त कर अपनी स्वाभाविकता एवं सरलता का परिचय दिया है।

घनानन्द के काव्य की जो एक महत्वपूर्ण विशेषता है वह है—लाक्षणिकता। लाक्षणिक प्रयोग के कारण इनके काव्य म अर्थ-द्योतन की अपूव शक्ति आ गयी है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में—"लक्षणा का विस्तृत मैदान खुला रहने पर भी हिन्दी कवियो ने इसके भीतर बहुत कम पैर बढ़ाया। एक घनानन्द ही ऐस कवि हैं जिन्होंने इस क्षेत्र में अच्छी दौड़ लगायी। वस्तुतः इनके छन्द लाक्षणिक प्रयोगो से भरे पड़ हैं। एक उदाहरण दृष्टव्य है—

कंत रमैं उर अन्तर में सु लहैं क्यों सुख-रासि-निरन्तर।
दंत रहैं आँगुरी, ते जु बियोग के तेह तचै परतन्तर॥
जो दुःख देखति हौं घनआनन्द रैन दिना बिना जानत सुतन्तर।
जानैं बेई दिन-राति, बखाने तें जाय परै दिन रात को अन्तर॥

व्यंजना शब्द-शक्ति व्यंग्यार्थ को घोषित करती है। अर्थ की विलक्षणता सम्भाव्य होती है। कवि घनानन्द ने अपने काव्य में अपनी विरह-वेदना को ही अधिक रूपायित किया है जिसकी अभिव्यक्ति में व्यंजना के माध्यम से ही उन्होंने अपने अनन्य प्रेम और 'सुजान' की निष्ठुरता का द्योतन किया है। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ ली जा सकती हैं—

'हियरा जगाय हम जोगहि जगावहीं।'—वस्तुतः इस कथन के माध्यम से कवि ने आन्तरिक अतृप्तता का उद्घाटन बड़ ही मार्मिक ढग से किया है।

इसके अतिरिक्त घनानन्द के काव्य में व्यंजना की असख्य मनोरम भूमियाँ दीख पड़ती हैं। **'त्यों पुकार मधि मौन'**, **'मोहि तो मेरे कवित्त बनावत'**, **मनौं ढर-**

कौहीं बानि दै', 'आयो न मिलति महा विपरीत छाई है'. 'वेदन की बढ़वारि कहाँ लौं दुराइये', आदि वाक्यांशों में व्यंजना के माध्यम से कवि ने अन्तःकरण की अनुभूतियों को बड़े ही मार्मिक ढंग से व्यंजित किया है।

घनानन्द कवि होने के साथ-साथ एक अच्छे संगीतज्ञ भी थे। उनकी भाषा में शब्दों में एक-एक वर्ण से ध्वनियाँ निःसृत होती हैं और उनका काव्य संगीतमय हो जाता है। वस्तुतः यह उनकी अप्रतिम प्रतिभा तथा कला-प्रज्ञा का ही परिचायक है। इनके शब्दों से निःसृत ध्वनियाँ ही अर्थ को स्पष्ट कर देती हैं—

घूटँ घटा चहुँ घिरि कै गहि काढ़े करेजौ कलापिन कूकैं।
सीरी समीर सरीर दहै चहकै चपला चख लै कर ऊके।।

वस्तुतः ध्वन्यार्थ-व्यंजना की समायोजना कवि के कौशल को संवेतित करती है।

कहीं-कहीं तो भाषा में नाद-व्यंजना की अतिरेकता के कारण घनानन्द के भाषाधिकार पर आचार्य विस्मित हो जाना पड़ता है। साधारण से शब्दों के माध्यम से एक उमग में कितने भावो की व्यजना घनानन्द कर सकते हैं, निम्न पंक्तियाँ निदेशित करती हैं—

बरसैं, तरसैं, सरसैं, अरसैं न कहूँ दरसैं यहि छाक छई।
निरखैं, परखैं, करखैं, चरखैं, उपजी अभिलासनि लास लई।।

शब्द-विन्यास के क्रम में हम देख चुके हैं कि ये ध्वन्यात्मक शब्दों के निर्माण में भी सिद्धहस्त प्रमाणित होते हैं।

इनकी भाषा सर्वत्र प्रवाहमयी है। अतः इनके काव्य की भाव-धारा भी अपनी अजस्र गति से प्रवाहित होती है। शब्दों के अनुकूल विन्यस्त होने से भाषा की प्रवाहात्मकता समर्थ बनती है। इनके कवित्त-सवैयो का निर्माण अनुकूल सामजस्य में हुआ-सा प्रतीत होता है। शब्दों को तरास-तरास कर इस प्रकार से सजा दिया गया है कि इनके कवित्त शीघ्र ही कण्ठस्थ हो जाते हैं। उत्कृष्ट काव्य में धारावाहिकता एक अनिवार्य तत्व के रूप मे स्वीकृत है और कवि घनानन्द ने इस तत्व का सयोजन अपने काव्य में अनुकूल ही किया है। ये मुक्तककार हैं और इनके सभी कवित्त या छंद गेय हैं। गेयता के लिए प्रवाह का टूटना ही उसकी सफलता है और कवि ने इसका बड़ा ही सफल निर्वाह किया है। इनके काव्य में एक-एक शब्द भावों को अनुकूल बहाते हुए सरकते से प्रतीत होते हैं।

शब्दों का चमत्कार अथवा उनका प्रदर्शन नानाविधि भंगिमाओं के साथ क्यों न हुआ हो किन्तु यदि उसकी भाषा भाव के अनुकूल नहीं बन पड़ी हो तो उस काव्य को कभी भी सफल नहीं कहा जा सकता। वैसा काव्य मर्म को स्पर्श नहीं कर पाता। रीतिकालीन कवियों में प्रायः यही दोष पाया जाता है। महाकवि घनानन्द

इस दोष से सर्वथा मुक्त हैं। इनकी भाषा भावों के संवहन में अत्यन्त सक्षम है। शब्दों के जो प्रयोग इनके काव्य में मिलते हैं, नितान्त ही भावानुकूल हैं। इनकी शैली ही भावमयी है। भावों के अनुकूल शब्द-चयन और तदनुरूप भाषा का प्रयोग कवि की महती विशेषता है।

कवि की कारीगरी और उसकी कलात्मक सूक्ष्मता अमूर्त-मूर्त विधान में ही देखी जाती है। जो भाव अत्यन्त ही सूक्ष्म होते हैं कवि अपनी चतुरता से उसे स्थूलता प्रदान करने का प्रयास करता है जिससे पाठक उस भाव का साक्षात्कार आसानी से कर सके। छायावादी कवियों ने इसी विधान को 'मानवीकरण' के रूप में ग्रहण किया जिसमें सूक्ष्म-सूक्ष्मेतर भावनाओं का भी मानवीय रूप में चित्रण किया गया। महाकवि घनानन्द के काव्य में भी इस कलात्मक विधान का सफल प्रयोग हुआ है। दृष्टि-लालसा को कवि ने नायिका के रूप में चित्रित कर अमूर्त का मूर्तीकरण किया है—

मूरति सिंगार की उजारी छवि आछी भाँति,
दीठि-लालसा के लोयननि लै लै आँजिहौं।

यहाँ देखने की लालसा को नायिका मानकर उसके नेत्रों में सुन्दर प्रिय की कान्ति को अंजन की तरह आँजने का प्रयत्न किया गया है। इसी प्रकार अवधि के कारण प्रियतम का पथ देखती हुई विरह-व्यथित आँखें रास्ता नापती हुई दिखाई गयी हैं—

जब से तुम आवनि औधि बदी, तब से अँखियाँ मग नापति हैं।

मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग से भाषा रंजनकारिणी बनती है तथा उसमें सरसता का निदर्शन होता है। यही कारण है कि काव्य-भाषा को उत्कृष्ट एवं सरस बनाने के लिए कवि मुहावरों तथा लोकोक्तियों का यत्र-तत्र प्रयोग अपनी भाषा में अवश्यमेव करता है। कवि घनानन्द के काव्य में तो मुहावरों की भीड़-सी लगी रहती है जिससे भाषा की रमणीयता देखते बनती है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

जीभ सँभारि न बोलति है, मुँह चाहत क्यों अब खायो थपेरे।
ज्यों-ज्यों करि करनि कनौड़े, ज्यों मूढ़ चढ़े बड़ि आवत नेरे॥

× × ×

रस प्यास के प्यास बढ़ाय के आस विसास में यौं विष घोरियो जू।

कवि ने भाषागत भाव-व्यंजकता को उत्कृष्टता प्रदान करने के लिए जिन लोकोक्तियों का सहारा लिया है, उनकी छटा भी इनके काव्य में द्रष्टव्य है—

कबहूँ तो मेरी पुकार कान खोलि है
आना कानी देवों दैया धाव कैसो लोन है।

× × ×

चल दूर भटू हौं वृथा भटकी लगे दूर के ढोल सुहावने री।

उक्ति-वैचित्र्य एवं वाग्वैदग्ध्य काव्य में अपना प्रमुख स्थान रखती है। कवि अपने मनोभावों के प्रकटीकरण में उसके कथन में एक विचित्रता उत्पन्न करता है जिससे भाव और भाषा की रोचकता बढ़ जाती है। हिन्दी साहित्य में सूर के महत्व का मूल कारण उक्ति-वैचित्र्य एवं उनका वाग्वैचित्र्य ही है। रीतिकालीन बिहारी को भी इन्हीं तत्वों के प्रकाशन के कारण प्रमुखता दी जाती है। घनानन्द ने भी अपने काव्य में अपूर्व उक्ति-वैचित्र्य एवं वाग्वैदग्ध्य का परिचय दिया है। आचार्य मिश्र के शब्दों में—"उक्ति-वैचित्र्य से तात्पर्य दूर की कोड़ी लाने से नहीं वरन् किसी बात को स्पष्ट करने की युक्ति या मुद्रा, रूप आदि को अपनी निरीक्षण-शक्ति से निरूपित करने की सामर्थ्य से है।" इस कथन के आलोक में घनानन्द अत्यन्त ही सफल सिद्ध होते हैं। उनका उक्ति-वैचित्र्य लाक्षणिकता से संपृक्त होकर काव्य में इस प्रकार व्यवहृत है कि भाव के अभिप्रकाशन में सहजता उत्पन्न करने में अत्यन्त ही सक्षम एवं समर्थ है।

घनानन्द ने उक्ति वैचित्र्य के माध्यम से कहीं तो सुखों को 'पखेरू' बनाकर उड़ाया है, कहीं कटाक्षों का 'बाण' बना दिया है और कहीं प्राणों को 'पक्षी' बनाकर 'आशा' रूपी वृक्ष पर उसे बैठा दिया है। अतः उनका यह उक्ति-वैचित्र्य ही भावोत्कर्ष को प्रकाशित करने का अत्यन्त ही चमत्कारिक साधन के रूप में प्रकट हुआ है।

घनानन्द काव्य में विरोधाभास की जो भीड़ दीख पड़ती है उसका एकमात्र कारण उनकी वाग्विग्धता है। इनका वाग्वैदग्ध्य भावों को सवेद्य बनाने में सहायक प्रमाणित होता है। इनके काव्य में प्रयुक्त वाग्वैदग्ध्य उनके भाषाधिकार को द्योतित करता है। वाणी की विदग्धता काव्य को प्रभावशाली बनाती है।

स्वच्छन्दतावादी कवि होने के नाते कवि को अपने भावों के प्रकाशन के लिए भाषा को नये-नये पथों े ले जाना पड़ा है और नये-नये शब्दों को गढ़ना पड़ा है और कुछ अव्यवहृत शब्दों को अपनाना भी पड़ा है। इन सब कारणों से उनकी भाषा अनेक स्थलों पर दुरूह एवं क्लिष्ट हो गई है। परन्तु साथ ही इससे भाषा की व्यंजकता और नये-नये अर्थों की शक्ति बढ़ी है—इससे भी इंकार नहीं किया जा सकता।

सचमुच भाषा पर घनानन्द का अद्भुत अधिकार है। उनके असाधारण भाषाधिकार पर मुग्ध होकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में लिखा है— "यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि भाषा पर जैसा अचूक अधिकार इनका था, वैसा और किसी कवि का नहीं। भाषा मानो इनके हृदय के साथ जुड़कर ऐसी वश-वर्तिनी हो गई थी कि ये उसे अपनी अनूठी भाव-भंगिमा के साथ जिस रूप में चाहते थे, मोड सकते थे।..........उनकी भावनाओं के अनूठे रूप-रंग की व्यंजना के लिए भाषा का ऐसा बेधड़क प्रयोग करने वाला हिन्दी के कवियों में दूसरा नहीं है।"

अतः आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र के शब्दों में इनकी भाषा के सम्बन्ध में यही कहा जायेगा कि "घनानन्द जी ब्रजभाषा के तो पूरे जानकार थे ही, भाषा की गति को भी भाव के अनुकूल मोड़ सकते थे। ये 'ब्रजभाषा प्रवीण' और 'भाषा प्रवीण' दोनों ही थे।"

घनानन्द जैसे रस-निरूपण में शास्त्रीयता की लकीर पर नहीं चले, वैसे ही अलंकार-निरूपण में उन्होंने नवीन और अभिनव पथ का अनुसरण किया। बिहारी की नायिका को जैसे 'आभूषण भार' थे वैसे ही घनानन्द की कविता के लिए अलंकार थे। अपनी नायिका के लिए भी उन्होंने जो कुछ किया है वह उनकी कविता पर भी घटित होता है—

तू अलबेली सरूप की राशि, सुजान विराजति सादे सुहाइनि।

इतना ही नहीं, जिस-जिस अंग में उनकी नायिका (और कविता भी) आभूषण उतार-उतार कर रखती चली जाती है, वही-वही अंग प्रेमी के मन को ग्रसता चला जाता है—

छोरि छोरि धरे जे जे भूषन बिदूसन से,
तहाँ तहाँ लागि लोभी मन गयौ ग्रसि है।

यही नहीं, उनकी कविता बड़ी लजीली, संकोचवती भारतीय नव-वधू की तरह से है जो अन्तर और बाह्य सौन्दर्य के अनुपात का ज्ञान तो रखती है पर उनकी सलज्ज चेष्टाओं से मर्यादा और सौन्दर्य दोनों की रक्षा भी करती है। उन्होंने लिखा है कि उनकी वाणी हृदय के भवन में मौन का घूँघट डालकर बैठने वाली सुसज्जित नायिका की तरह है जो उल्लास और रस दोनों से परिपूर्ण है और जिसको रसना रूपी सखी कान में गुप्त मार्ग से ले जाकर चित्त की सजी हुई शय्या पर बिठला देती है जहाँ वह समझ की गोद में रीझने वाले प्रिय के साथ विलास करती है—

उस मौन में मौन को, घूंघट कै,
दूरि बैठी विराजित बात बनी।........

कहने का अभिप्राय यह है कि लाक्षणिक मूर्तिमत्ता, अमूर्त भावों का मूर्तिकरण, ध्वन्यात्मक शब्द-योजना, वेदना की विवृत्ति, सूक्ष्म कल्पना आदि काव्य के श्रेष्ठ उपादान घनानन्द के पास हैं, इसलिए उन्हें अलंकारों की अधिक आवश्यकता नहीं पड़ती है। उनके काव्य में विरोधाभास, रूपक, व्यतिरेक उपमा, उत्प्रेक्षा अलंकारों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। ये सभी अलंकार भावों के उत्कर्षक बनकर आये हैं। वैसे यदि गणना ही करनी हो तो उनमें अलंकारों की भी कमी है।

घनानन्द को दो अलंकार विशेष प्रिय हैं—विरोधाभास और रूपक। अलंकारों के सादृश्यमूलक और विरोधमूलक जो दो भाग किये जाते हैं उनमें से विरोधाभास द्वितीय भेद का प्रमुख अलंकार है। वस्तुतः कविता में वक्रता की प्रधानता होने के कारण विरोधाभास उनके काव्य की प्रमुख वस्तु बन गई है। प्रेम की अनिर्वचनीयता

को किसी दूसरे अलंकार द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। परन्तु घनानन्द का विरोधाभास हिन्दी की शास्त्रीय परम्परा एवं उसके पोषक कवियों से भिन्न कोटि का है। उनकी विशेषता यह है कि जहाँ संस्कृत और हिन्दी में विरोध श्लेषमूलक है, वहाँ घनानन्द का विरोधाभास भावमूलक है। यथा, केशव के इस छन्द में मात्र शब्द-चमत्कार का ही प्राधान्य है—

विषमय यह गोदावरी अमृतन को फल देति।
केशव जीवनहार को दुख अशेष हरि लेति॥

घनानन्द भाव के आवेश में विरोध से काम नहीं लेते। वे सीधे-सादे शब्दों में विशेष चमत्कार उत्पन्न करते हैं—

'सीरी परो सोचनि अचम्भे सों जरौ भरौं' में चमत्कार केवल कथन का है और विरोध भी सीधा-सादा है। सच तो यह है कि चाहे वस्तु में विरोध हो या भावों में, वह विरोध ऊपरी है, उस विरोध से उत्पन्न चमत्कार भी ऊपरी ही है। मूलभाव की ओर हमारी दृष्टि सहज ही पहुँच जाती है। इसीलिए विरोधाभास में विराध का आभास मात्र माना जाता है, वस्तुतः विरोध नहीं। घनानन्द ने कहीं-कहीं लक्षणा-मिश्रित विरोध का भी प्रयोग किया है—

'झूठ की सचाई छाक्यौ त्यौं हित कचाई पाक्यौ' में लक्षणा-मिश्रित विरोध है जिसमें भाव की सूक्ष्मता और गहराई दोनों बढ़ गई हैं। कहीं-कहीं 'उघरि छये है पै पसारो आपनो पसारि' जैसे विरोधाभास के उदाहरणों में उन्होंने मुहावरों से ही विरोध उत्पन्न करने की कोशिश की है—

नेह भीजी बातें रसना पै उर-आँच लागै,
जागै घनआनन्द ज्यों पुंजन मसाल है।

उक्त पंक्ति में कवि ने विरोधाभास के द्वारा विरह-व्यथित हृदय का मर्मस्पर्शी चित्र प्रस्तुत किया है।

इसी प्रकार, 'प्यास भरी बरसै तरसै मुख देखन को' में अँखियाँ प्यासी स्वयं हैं पर उन्हीं के द्वारा पानी भी बहाया जा रहा है, कैसी विरोधी-सी बात है?

घनानन्द का दूसरा प्रिय अलंकार रूपक है। रूपक अलंकार के द्वारा कवि ने अप्रस्तुत में प्रस्तुत का विधान एवं अमूर्त का मूर्त रूप में चित्रण कर अपने अलौकिक कौशल का परिचय दिया है। इनके अधिकांश रूपक वर्षा के रूप में बँधे हैं। इनकी कविता का अधिकांश बादल के उपमान पर रचा हुआ सांगरूपक कहा जा सकता है। इन्होंने बादल का रूपक इसलिए अपनाया है जिससे वे सरसता के निधि अपने प्रिय की निष्ठुरता का विवरण दे सकें—

रस सागर नागर स्याम लखें अभिलाखन धार मँझार बहौं।
सुन सूझत धीर को तीर कहूँ पचि हारिकै लाज सिवार गहौं।
घनआनन्द एक अचंभो बड़ो गुन हाथ हूँ बूड़ति-कासौं कहौं।

× × × ×

रूप चमूप सज्यौ दल देखि भज्यौ तजि देसहि धीर-मवासी।
नैन मिले उर के पुर पैठते लाज न लुटी न छुटी तिनका सी।

उपर्युक्त पंक्तियों में साँगरूपक की आलंकारिक छटा विद्यमान है।

कवि ने जिस तीसरे अलंकार की समायोजना प्रमुखता से अपने काव्य में की है वह है व्यतिरेक। चातक और मीन, पतंग और पपीहा इन चार प्रेम-प्रतीकों को लेकर उन्होंने अपने को सबसे ऊँचा माना है। इस अलंकार का जहाँ-जहाँ प्रयोग हुआ है वहाँ-वहाँ दो तत्वों की व्यंजना की गई है—प्रेम की अनन्यता और विरह की मरणासन्न स्थिति का चित्रण। 'हीन भये जलमीन अधीन कहा कछु मो अकुलानि समानै' में मछली की हीनता प्रकट की गई तो 'बिछुरैं मिलैं मीन पतंग दसा कहै मो जिय की गति को परसै' में मछली और पतंग दोनों को हेय ठहराया गया है।

'जेतो घट सोधों' वाले छन्द में वियोग की आग को साधारण आग से अनोखी मानकर अन्तर की व्यथा का चित्रण व्यतिरेक अलंकार के द्वारा बड़ा ही मार्मिक बन पड़ा है। शेष अलंकार में अपह्नुति विशेष रूप से प्रकृति वर्णन में, अनुप्रास सौन्दर्य-वर्णन में, यमक सामान्य निवेदन में प्रयुक्त हुआ है। घनानन्द के काव्य में छन्द के चारों चरण सशक्त होते हैं। इसलिए पद्माकर की तरह अनुप्रास का प्रयोग वे भले ही न कर पाये हों, पर जो कुछ भी स्वाभाविक अनुप्रास होता है, वह बड़ा ही उपयुक्त होता है। वे अनुप्रास के लिए शब्द को तोड़ते-मरोड़ते नहीं।

घनानन्द छन्द-विधान में भी हमें पर्याप्त कौशल लक्षित होता है। छंद-विधान की दृष्टि से घनानन्द के काव्य को तीन प्रमुख भागों में विभक्त किया जा सकता है। सुविधा की दृष्टि से यह विभाजन उपयुक्त प्रतीत होता है, अतः हम यहाँ इसी का उल्लेख करेंगे—

कवित्त-सवैया शैली—घनानन्द का सुजान-प्रेम अथवा प्रेम-पीड़ा इन्हीं छन्दों में व्यक्त हुई। वैसे भी रीतिकाल का सबसे प्रचलित छन्द कवित्त या सवैया रहा है।

दोहा-चौपाई शैली—इस शैली की रचनाएँ यद्यपि संख्या में अनेक हैं, पर वे सभी संक्षिप्त हैं। काव्यत्व की दृष्टि से उनका विशेष महत्व नहीं है। 'ब्रज-विलास', 'प्रेम-सरोवर' आदि रचनाओं में केवल दोहा-छन्द का प्रयोग हुआ है जबकि 'मुरलिकामोद', 'ब्रज-प्रसाद', 'प्रीति-पावस' आदि रचनाओं में केवल चौपाई-छन्द का प्रयोग हुआ है। साथ ही 'प्रिया-प्रसाद', 'यमुना-यश', 'कृष्ण-कौमुदी' आदि ऐसी भी रचनाएँ हैं जिनमें दोहा, चौपाई दोनों ही छन्दों का प्रयोग हुआ है।

पद-शैली—सूर, तुलसी, मीरा की पद-शैली को भक्ति-काल में तो खूब अपनाया गया परन्तु रीतिकाल में पदों का प्रचलन कम ही देखने को मिला। रीतिकाल में घनानन्द ही सम्भवतः ऐसे कवि हैं जिन्होंने विविध विषयों पर एक हजार से ऊपर पदों की रचना की है। पद-रचना की दृष्टि से वे रीतिकाल के अकेले सफल कवि हैं।

उपर्युक्त विभागों के अतिरिक्त घनानन्द के काव्य में ऐसे छन्दों का प्रयोग भी मिलता है जो या तो नये हैं या फिर पूर्व-प्रचलित दो या तीन छन्दों के संयोग से बने हैं। इनके 'वियोग बेलि' और 'इश्कलता' पर फारसी शैली का प्रभाव लक्षित है। इस प्रकार हम देखते हैं कि घनानन्द के काव्य में पर्याप्त छन्द-वैविध्य है। यह स्पष्टतया लक्षित है कि उन्होंने छन्द विधान की रीतिकालीन सीमाओं से अपने को सर्वथा पृथक रखा है। इन्होंने प्रचलित छन्दों के प्रयोग में जहाँ एक ओर अपने अपूर्व कौशल का परिचय दिया है वहाँ दूसरी ओर अप्रचलित छन्दों को अपना कर अपने अपूर्व साहस को भी द्योतित किया है।

रीतिकाल का सबसे प्रिय छन्द कवित्त या सवैया रहा है। घनानन्द ने कवित्त-सवैया छन्द का प्रयोग भी करके इस दृष्टि से अपने को किसी भी रीतिकालीन कवि से पीछे नहीं रखा है। रीतिकालीन कवि होने के नाते इन्होंने इन्हीं दो छन्दों को विशेष रूप से अपनाया है। सवैया बड़ा व्यवस्थित छन्द के रूप में स्वीकृत है और 'छन्द प्रभाकर' में सवैया के १२ भेद माने गये हैं। घनानन्द ने अपने काव्य में विविध सवैयों का प्रयोग किया है। उन्होंने दुर्मिल, मत्तगयंद, किरीट, अरसात आदि सवैयों का प्रयोग विशेष रूप से किया है। हाँ, उन्होंने सुमुखी, मुक्तहरा, वाम जैसे सवैया छन्दों का प्रयोग विरल ही किया। इन छन्दों के प्रयोग की ओर कवि सम्भवतः इस-लिए कम प्रवृत्त हुआ है क्योंकि इनमें जगण मिश्रण होने के कारण मृसणता कम ही रहती है। कवियों के प्रयोग में भी घनानन्द और कवियों की अपेक्षा अधिक सरसता तथा कोमलता पैदा कर सके हैं।

यद्यपि घनानन्द के काव्य में छन्दों की विविधता पायी जाती है फिर भी उसकी सरलता नष्ट नहीं होती। उनके छन्दों में प्रवाहात्मकता, गेयता, पद मैत्री आदि गुण ऐसे घुल-मिल गये हैं कि उनकी कविता कमनीय कामिनी जैसी मालूम पड़ने लगती है। उनके छन्द-प्रयोग के महत्वांकन के सम्बन्ध में डॉ० कृष्णचन्द्र वर्मा का कथन अप्रासांगिक न होगा—"यह छन्द-वैविध्य उनकी भाव-प्रकाशनार्थ स्वच्छन्द गति ग्रहण करने का ही सूचक है। उनके भाव हर छन्द में अनादृत और अबाध रूप से व्यक्त हुए हैं, नये छन्द का ग्रहण उनकी भाव-धारा का अवरोधक नहीं हुआ है।"

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि घनानन्द के काव्य में कला के सभी उपकरण अपने उत्कर्ष के साथ आये हैं। भावपक्ष के साथ-साथ इनके काव्य का कलापक्ष इतना सबल है कि इनकी कविता अपनी भाव-माधुरी से तो पाठकों को मुग्ध करती ही है—उनका कला-वैभव भी काव्य-रसिकों को चमत्कृत कर देता है। उनकी इस विशेषता के कारण ही बहुत से समीक्षक उन्हें 'महाकवि' की उपाधि से विभूषित करते हैं।

घनानन्द का आविर्भाव हिन्दी-साहित्य में एक अद्भुत घटना है। दरबारी वातावरण और कविता की रीतिबद्धता दोनों का परित्याग करके उन्होंने एक नये पथ का पथिक बनना स्वीकार किया। उन्होंने अपनी प्रेमिका के कारण दरबार छोड़ा और उसकी निष्ठुरता के कारण विरह के गम्भीर समुद्र में अवगाहन कर काव्य के

अनुपम मुक्ताओं की माला पिरोई। जब हमारा काव्य एक ओर धार्मिकता और दूसरी ओर काव्य के जटिल बन्धनों में जकड़ा हुआ था तब घनानन्द ने उसे लौकिकता का आवरण पहनाकर तथा व्यक्तिगत प्रेम की व्यंजना का साधन बनाकर खड़ा कर दिया। उन्होंने तत्कालीन प्रचलित दृष्टिकोण के अनुसार अपनी व्यक्तिगत भावनाओं का तिरस्कार अथवा निषेध नहीं किया वरन् उन्हें एक रहस्यात्मक दार्शनिक रूप प्रदान कर सुजान के प्रति अपने तीव्र प्रेम का प्रकाशन किया। गहराई से देखा जाय तो प्रेम की ऐसी व्यंजना हिन्दी के समूचे साहित्य में कहीं देखने को नहीं मिलती। प्रेम की अपरिमेयता दिखाते हुए उन्होंने उसकी तुलना किसी अलौकिक महासागर से की है, जिसमें राधा और कृष्ण निरन्तर निमग्न रहते हैं और जिसकी तरल तरंगों की एक बूंद ने समस्त मानवलोक को आलोकित कर दिया है।

छायावादी काव्य की सबसे बड़ी विशेषता भाषा की लाक्षणिकता के माध्यम से व्यक्तिगत प्रेम की व्यंजना है। रीतिकाल में ऐसा साहस करने वाला यदि कोई कवि हुआ है तो वह घनानन्द ही हैं। कदाचित इसीलिए कविवर दिनकर ने घनानन्द को छायावाद का प्रथम कवि घोषित किया है। छायावाद में खड़ीबोली को जो स्वरूप प्राप्त हुआ वह रीति-काल में ब्रजभाषा को घनानन्द ने दिया। फिर जो अशरीरी प्रेम—दिव्यता को लिए हुए लौकिक प्रेम—छायावाद की विशेषता है वही घनानन्द में भी मिलता है।

घनानन्द ने जो कुछ भी लिखा है वह एक सच्चे प्रेमी के हृदय के सहज स्फुरित उद्‌गार हैं। उनका भाषा पर अबाध अधिकार है. तभी तो वे जो भी गहरी अनुभूति व्यंजित करना चाहते हैं. सहज ही कर देने हैं। वे जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं उनके लिए व्यर्थ विशेषणों का प्रयोग उन्हें अभीष्ट नहीं होता। वे घिसे-पिटे भी नहीं होते और अनगढ़ होने पर भी अपने साथ भाव को लपेटे रहते हैं।

हिन्दी के रीतिकाल के कवियों में और उसके बाद आधुनिक युग में भी उसी परिपाटी पर कविता करने वाले अन्य कवियों में शब्द-विन्यास की वह छटा नहीं मिलती जो घनानन्द में मिलती है। इसका कारण उनका अच्छा संगीतज्ञ और काव्य कला-निष्णात होना है। उनके छन्दों में जो प्रवाह और गेयत्व मिलता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। एक शब्द में कहें तो उनकी अभिव्यक्ति कृत्रिमता है। अकृत्रिम ही जिस युग के काव्य की कसौटी थी उसमें ऐसी अकृत्रिप अभिव्यक्ति अपने में एक बड़ी उपलब्धि है। गिने चुने अलंकार, गिने चुने छन्द और प्रेम की नाना अन्तर्दशाओं एवं गहन अनुभूतियों का लहराता हुआ समुद्र—यही है घनानन्द के काव्य का सर्वस्व। इस दृष्टि से वे सबसे अलग खड़े हैं और कोई भी उनके समक्ष ठहर नहीं सकता। लौकिकता और अलौकिकता के दो तटों के बीच प्रवाहित उनकी काव्य-मन्दाकिनी में अवगाहन करके प्रेमी और भक्त दोनों शान्ति और शीतलता प्राप्त करते रहे हैं और आगे भी करते रहेंगे।

ठाकुर

रीति-स्वच्छन्द कवियों में ठाकुर की कविता और व्यक्तित्व सर्वथा विशिष्ट था। एक ओर वे अत्यन्त मधुर भाषी प्रेमी कवि थे तो दूसरी ओर वे अत्यन्त स्वाभिमानी और निर्भीक थे। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र के शब्दों में—"ठाकुर में ठसक भी है, और कसक भी।.........ये बड़ी स्वच्छन्द उमंग और वृत्ति रखने वाले थे। कविता को ये हृदय की चीज भी समझते थे और सभा की भी।......... इनका प्रेम चाहे निराला ही रहा हो पर ससार की ओर से इन्होंने आँखें नहीं बन्द कीं। कवि प्रेम पारखी भी है और लोकदर्शी भी।"

ठाकुर अत्यन्त ही सहृदय, निर्भीक, उत्साही, रसिक, व्यवहार कुशल एवं दूरदर्शी कवि थे। वे प्रेमी जीव थे। उनकी प्रेयसी सुजान नाम की सुनारिन बतायी जाती है। प्रेम-लोक में विचरण करने वाले कवि ठाकुर बड़े मस्त और बेपरवाह थे वाक्पटुता और प्रत्युपन्न मतित्व का गुण इनमें कूट-कूट कर भरा था। वे रीतिकालीन बू-वासना से सर्वथा दूर रहने वाले एक सच्चे कलाकार थे। इनकी कविताओं में भी इनके स्वभाव की अक्खड़ता, निर्भीकता और मस्ती की झलक यत्र तत्र-सवत्र दीख पड़ती है।

ठाकुर मन-प्राणों से कवि थे। तत्कालिक काव्य-बन्धनों की परवाह न करके उन्होंने अपने हृदयोद्‌गारों को ही कविता का वर्ण्य-विषय बनाने के कारण उनके काव्य में सहजता, स्वाभाविकता एवं सरसता है। उसकी कविता गहराई लिए हुए भी सरल-सुबोध है। अतः सवसाधारण मे भी वह लोकप्रिय है। ठाकुर ने मानव सुलभ प्राय: सभी भावनाओं का चित्रांकन अपने काव्य में किया है, जिससे विभिन्न रस-धाराएँ निःसृत होती हैं। उनमे प्रमुखता शृगार, वात्सल्य और भक्ति की है, यद्यपि वात्सल्य और भक्ति को शृंगारादि अन्य रसों की तरह मान्यता नहीं मिली है फिर भी ये रस-चर्वणा की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

ठाकुर का प्रतिपाद्य

ठाकुर के काव्य का प्रतिपाद्य प्रमुखतः उनका प्रेम तो था ही पर साथ ही उनके काव्य में लोक जीवन भी पूरे लालित्य के साथ प्रस्तुत हुआ है। इन्होंने शृगार रस को अपना वर्ण्य बनाया पर कुछ और ही ढग अपना कर। ठाकुर का शृगार वर्णन भी स्वच्छन्दता के परिवेश में ही हुआ है। इनके संयोग शृंगार मे सौन्दर्य, प्रेम,

मिलन, अभिसार आदि सभी का चित्रण मिलता है किन्तु रीति की पिटी-पिटायी लीक पर नहीं। इनके वर्णन में रीतिबद्ध शृंगार वर्णन की सी अश्लीलता या नग्नता नहीं बल्कि प्रेम और सौन्दर्य का सरस सूक्ष्म चित्रण अधिक मिलता है।

प्रेम का मूल स्रोत आकर्षण है और उस आकर्षण का केन्द्र है सौन्दर्य। प्रायः नायक-नायिका एक दूसरे के सौन्दर्य से ही आकृष्ट होते हैं। कवि ठाकुर ने नायक-नायिका दोनों के आकर्षक सौन्दर्य को अपने काव्य में चित्रित किया है। इनके सौन्दर्य-चित्रण में सजीवता है। कविवर ठाकुर ने नारी सौन्दर्य के भी जीवंत चित्रण प्रस्तुत किये हैं। पहले हम नायक के ही सौन्दर्य का एक चित्र लें—

देखत ही चित लेइ चुराइ सु या ब्रज मांझ सुनी चरचा इक।
तातैं गइ चलि नन्द के मन्दिर देखन नैनन को सुखदाइक ॥
ठाकुर को सुखमा बरनै अरे काम लगै जिनको छवि-पाइक।
काहे न जाँइ सबै ब्रज देखन साँचहूँ साँवरो देखबे लाइक ॥

यहाँ कवि ने न तो श्रीकृष्ण के वस्त्राभूषणों का वर्णन किया है, न टेढ़ी-भंगिमाओं का ही। केवल 'देखन नैनन को सुखदाइक', 'काम लगै जिनको छबि पाइक' तथा 'साँवरो देखबे लाइक' कहकर ही उनके अभिनव सौन्दर्य को रूपायित कर दिया है। इसे ही सहज सौन्दर्य कहा जा सकता है जिसका उत्कृष्ट चित्रण ठाकुर जैसा ही कवि कर सकता है।

अब नायिका के नेत्र-सौन्दर्य का चित्रांकन कितना आकर्षक, चटक और चमत्कारपूर्ण है—

डीलदार सीलदार लाज को अहार जिन्हें,
तीछन मृगा से देख देख रहियत हैं।
मीन और खंजन से अलसे अनोखे देखे,
कंज दलहु तें ये विशेष चहियत हैं ॥
ललित ललौहैं, कसकौहें चसकौहें जान,
ठाकुर कहत सुख पाइ रहियत हैं।
औरन के नैन कहा नैनन के लेखे आवैं,
ऐसे नैन होंइ तब नैन कहियत हैं ॥

ठाकुर स्वच्छन्द वृत्ति के कवि थे। अतः उन्होंने साहित्यिक या परम्परागत बन्धनों की कभी परवाह नहीं की। सहजतावश जो अनुभूति किया उसे अभिव्यक्ति दी। बिना किसी मध्यस्थ के सीधे ही अपने प्रेम पात्र के समक्ष वे जिस निर्भीकता से अपने प्रेम का चित्रण कर देते हैं उसमें सहजता-स्वाभाविकता और सरसता सर्वत्र सुवास के समान समायी हुई सी परिलक्षित होती है। सुप्रसिद्ध समीक्षक डॉ० विजयेन्द्र स्नातक के अनुसार—"रीतिकालीन रीतिबद्ध कवियों का प्रेम-शृंगार-वर्णन बौद्धिक व्यापार है, उसमें हृदय की सम्वेदनशीलता दुर्लभ है।" किन्तु ठाकुर

के प्रेम-शृंगार-वर्णन में हार्दिकता और सम्वेदनशीलता के दर्शन होते हैं। इनके प्रेम-वर्णन में प्रखरता व प्रभविष्णुता के साथ जो सहजता और सरसता है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

ठाकुर के प्रेम-वर्णन का मूल्यांकन करते हुए डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ने लिखा है—"सीधी-सरल शैली में प्रेम की तीव्र-तरल अनुभूतियों का संग्रथन इस काल के अन्य कवियों में भी उपलब्ध नहीं होता। ठाकुर कवि की विशेषता यह भी है कि उन्होंने अपने काव्य को अनुभूति प्रधान रखा है। सहज अनुभूति को अकृत्रिम शैली से अभिव्यक्त करने की कला उन्हें सिद्ध थी।"

यद्यपि घनानन्द जैसी गहरी स्वानुभूति उनमें नहीं है तो भी उसमें प्रिय से पृथक होने की गहरी वेदना व्यँजित हुई है। इस प्रसंग में प्रिय की निष्ठुरता और विश्वासघात तथा प्रेमी के अकेलेपन की व्यथा के चित्र विशेष मार्मिक बन पड़े हैं। इसी कचोट से व्यथित होकर कवि अपनी प्रियतमा को उपालम्भ दे बैठता है। उसके इस उपालम्भ में विषम प्रेम की करुण व्यंजना तो है ही पर साथ ही एकांतिक प्रेम के प्रति एक अविचल निष्ठा भी लौ कि तरह लपलपाती है—

का करिये तुम्हरे मन को जिनके अब लौं न मिटौ दगा दी बो।
पे हम दूसरो रूप न देखिहैं आनन आन को नाम न लीबो॥
ठाकुर एक सो भाव है जो लगि तौ लगि देह धरे जग जीबो।
प्यारे सनेह निबाहिबे को हम तौ अपनो सो कियो अरु कीबो॥

वियोग की मार्मिक अनुभूतियों को ठाकुर ने सूर आदि-कवियों के समान गोपियों के भावोद्गारों के माध्यम से भी चित्रित किया है। प्रियतम कृष्ण से वियुक्त होने पर गोपियों का संसार ही उजड़ गया है—उनके सम्पूर्ण रस का स्रोत ही जैसे सूख गया है। वे जीती हुई भी अपने आपको निष्प्राण सी पाती हैं—

मन भावन प्यारे गोपाल बिना जग जीजतु है पै न जीजतु है।

वियोग-व्यथा की सीधी-सादी और मार्मिक व्यंजना में ठाकुर बेजोड़ कहे जा सकते हैं!

इस प्रकार कहा जा सकता है कि ठाकुर के काव्य में संयोग और वियोग शृंगार के सजीव-सरस चित्र अंकित हुए हैं। वे प्रेमोपासक कवि थे अतः प्रेम के दोनों पक्षों का स्वानुभूति अभिव्यंजना करने में सफल हुए हैं। यह ठीक है कि उनके काव्य में घनानन्द जैसी गहरी विरहानुभूति लक्षित नहीं होती और न बिहारी-पद्माकर जैसे कवियों के चटक सौन्दर्य के चित्र उनके काव्य में मिलते हैं तथापि उनके काव्य में हृदय की जो निष्कपट और सरल अभिव्यक्ति है वह मार्मिक भी है और बेजोड़ भी।

ठाकुर के काव्य की एक प्रमुख विशेषता है—प्रकृति का खुलकर चित्रण। ठाकुर से पूर्व प्राकृतिक परिवेश का इतना आत्मीय और रागात्मक चित्रण किसी

कवि में नहीं मिलता। मानवीय प्रकृति के साथ ठाकुर ने प्राकृतिक परिवेश का चित्रण भी बड़ा सजीव और सरस किया है। ठाकुर आदि स्वच्छन्दतावादी कवियों का प्रकृति-चित्रण उद्दीपन रूप में होने पर भी हृदयों को प्रभावित करने वाले हैं और प्रकृति के सहज रूप की ओर आकृष्ट करने वाले हैं। ठाकुर ने प्रकृति के यथार्थ के रूप के साथ-साथ उसका सवेदनात्मक रूप भी अंकित किया है। प्रकृति के प्रति कवि का अमित आकर्षण आलम्बन रूप के चित्रण में देखा जा सकता है। उसमें कवि की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति अधिक सहायक होती है। बसन्तकालीन इन पंक्तियों में कवि की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति को देखा जा सकता है—

आम पर मौर देखु मौर पर झौंर देखु
झौंरन पै भौंर देखु गुंजत मुहावने।

कवि के पावसकालीन चित्रों में भी हम प्रकृति के प्रति उसके असीम अनुराग को देख सकते हैं। तन्मय होकर जहाँ कवि उमड़ते-घुमड़ते मेघों के बीच दौड़ती-लपकती दामिनी को देखता है—

दौरि-दौरि दमकि दमकि दुरि दामिनी यौं
दुन्द देत दसहूँ दिसान दरसतु है।

ठाकुर के प्रकृति-चित्रण को देखकर सहज ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उनकी वृत्ति प्रकृति में रमी हुई थी। प्रकृति के प्रति उनकी रागात्मकता उनके प्रकृति चित्रण में सहज ही देखी जा सकती है। यद्यपि उन्होंने प्रकृति का चित्रण अधिक नहीं किया है किन्तु जो भी किया है, उससे उनका प्रकृति के प्रति गहरा तादात्म्य लक्षित होता है। उनके प्रकृति-चित्रण में स्थल-स्थल पर प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण के साथ ही सच्ची भावुकता की झलक भी मिलती है।

कवि ठाकुर की मूल विशेषता यह भी है कि उन्होंने सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश को अपने काव्य का विषय बनाया है जो तत्कालीन कवियों में उतने उत्कर्ष के साथ नहीं पाया जाता है। इस क्षेत्र में वे घनानन्द से भी आगे बढ़े हुए हैं। ठाकुर एक सच्चे भावुक कलाकार थे और जीवन के अनुभवों को व्यापकता के साथ महसूस किया था। यही कारण है कि इनके काव्य में हमें तत्कालीन सामाजिकता के चित्र देखने को मिलते हैं तथा भारतीय संस्कृति का सजीव चित्रण भी। इतिहास के अनुसार रीतिकालीन युग विलास-वैभव का युग था। शासक और शासित वर्ग शृंगार की नग्नता को ही प्रेम मान बैठे थे तथा विलासी-सामग्रियाँ ही उनके जीवन के सुखोपयोगी माध्यम मानी जाती थीं। विलास-सामग्रियों की पूर्ति के लिए निम्न वर्गों का शोषण किया जा रहा था। राजभवन न्याय का केन्द्र न होकर काम और व्यभिचार के केन्द्र बन चुके थे। समाज में धार्मिकता का आडम्बर हो गया था और जनता में केवल अज्ञान, दम्भ, पाखण्ड, मिथ्यावाद आदि दुर्गुणों की बहुलता घर कर गयी थी। उच्च एवं निम्न दोनों वर्गों का नैतिक पतन हो चुका था। ठाकुर

का कवि हृदय उक्त परिस्थितियों को देखकर पिघल उठता था। पर वे कर ही क्या सकते थे—'अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ता।' इस युग की धारा ही ऐसी थी। फिर भी कवि हृदय ने अपनी अनुभूत परिस्थितियों को वाणी के माध्यम से अभिव्यक्ति दे ही दी जो इनके काव्य की सबसे बड़ी विशेषता है। उक्त परिस्थितियों के कारण ही इनके काव्य में नीति-उपदेश सम्बन्धी उक्तियाँ भरी पड़ी हैं। तत्कालीन शासकों और उनके अधिकारियों का वास्तविक चित्र इन पंक्तियों में उभर आया है, कवि की स्पष्टता उसकी निर्भीकता और ईमानदारी का द्योतन कराती है—

मीरजादे पीरजादे असल अमीरजादे,
साहेब फकीरजादे जादे आप खो रहे।
रावजादे राइजादे साहुजादे शाहजादे,
कुल के असीलजादे नींद ही में सो रहे॥
ठाकुर कहत कलिकाल के कहर मांझ,
पहर पहर पर भारी भय भो रहे।
दान किरवान नमै ग्यान गुन स्यान समै,
सब जादे मिटि के हरामजादे ह्वै रहे॥

समाज में परिव्याप्त दुर्गुणों को देखकर कवि के हृदय से जो शब्द निकले हैं, तत्कालीन समाज के रूप को हमारे सामने प्रस्तुत करने में कितने समर्थ हैं देखिए—

रूप है न रस है न गुन है न ज्ञान कहूँ,
शील है न सत्य है भाई निरस जमानो है।
रीति है न प्रीति है न नीति है न न्याव कहूँ,
घर घर देखियत हरष हिरानो है॥
ठाकुर कहत भूलो सकल संजोग भोग,
कठिन कुजोग लोग सबही बिरानो है॥
कौन को जतैये कहाँ जैये कहाँ पैये बीर,
बन बहराइबे को ठौर न ठिकानो है॥

कवि ठाकुर ने देखा कि कवि समाज शृंगार का स्थूल और विलासितापूर्ण चित्रण को ही कवि-कर्म की इतिश्री समझ रहा है। उन्होंने तत्कालीन उन कवियों पर खासा व्यंग्य किया है जो कविता के नाम पर विलास का चित्रण अथवा तुक अक्षरों का जोड़कर यश और प्रताप की कहानी गढ़ा करते थे। रीति-काल में ऐसी कविता की बहुतायत हो रही थी जिसका जीवन के साथ कोई मेल न था। ठाकुर रीतिप्रेमी ऐसे ही कवियों पर व्यंग्य करते हैं—

सीख लीन्हों मीन मृग खंजन कमल नैन,
सीख लीन्हों यश औ प्रताप को कहानो है॥

× × × ×

डेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच
लोगन कवित्त कीबो खेल करि जानो है ॥

ठाकुर का स्वाभिमानी व्यक्तित्व किसी बाह्य दबाव को स्वीकार करने को तैयार न था। उन्होंने अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति देते हुए तत्कालीन मानवता को सजग करने का भी प्रयास किया है। निम्न पंक्तियों में कैसा फड़कता हुआ भाव है—

सेवक सिपाही हम उन राजपूतन के
दान युद्ध जुरिबे में नेकु जे न मुरके ॥
नीति देनवारे हैं मही के महिपालन को,
कवि उनहीं के जे सनेही साँचे उर के ॥
ठाकुर कहत हम बैरी बेवकूफन के,
जालिम दमाद हैं अदानियाँ ससुर के ॥
चोजन के चोर रस मौजन के पातसाहि,
ठाकुर कहावत पै चाकर चतुर के ॥

ठाकुर के काव्य में भारतीय संस्कृति के उत्तम उदाहरण भी सुरक्षित हैं। समाज में विभिन्न अवसरों पर मनाये जाने वाले उत्सवों, त्यौहारों आदि का उन्होंने बड़ा ही मनमोहक और सजीव चित्रांकन किया है। इन सामाजिक पर्वों के जो चित्र ठाकुर ने प्रस्तुत किये हैं, उनमें लोक-हृदय का स्पन्दन साफ-साफ सुनाई पड़ता है। ऐसा लगता है कि कवि स्वयं उस पर्व में शामिल हो उल्लसित हो रहा है। ऐसे ही सजीव चित्रांकन का एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है—

ठाकुर कहत प्यारी श्याम तन हेरि हेरि,
मुरि मुसक्यात ठाढ़ी कुँवरि किशोरी है ॥
दौरि लै गुलाल ब्रज बाल चरयो ओरन तें,
होरी लाल होरो लाल होरी लाल होरी है ॥

इसी प्रकार उन्होंने रक्षाबन्धन, दशहरा आदि पर्वों-त्यौहारों का भी बड़ा सरस और सजीव वर्णन किया है। इस प्रकार के वर्णनों से कवि की सहृदयता एवं लोकोन्मुखता का परिचय मिलता है। इन सामाजिक पर्व-त्यौहारों के चित्रण में एक ओर लोकोल्लास और सामाजिक मन की सरस अभिव्यक्ति हुई है तो दूसरी ओर कवि के वैयक्तिक वैशिष्ट्य को भी देखा जा सकता है।

ठाकुर के काव्य में भक्ति की भावना को भी प्रश्रय मिला है किन्तु उनकी भक्ति भावना कम ही स्थलों पर मुखरित हुई है। ठाकुर ने भक्ति सम्बन्धी छन्दों में वात्सल्य भाव की भी व्यंजना की है। अपने आराध्य श्रीकृष्ण के बाल रूप का वर्णन करते हुए उसमें माता यशोदा और अपनी वंदना भाव को एक साथ अभिव्यक्त करने में वे पूर्ण सफल हुए हैं।

ठाकुर के लिए श्रीकृष्ण के ये ही युगल-चरण सुखदायक हैं जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है—'रावरे चरण सुख करन हमारे हैं।' उनकी दृष्टि में परमात्मा सर्वशक्तिमान एवं घट-घट व्यापी है। ईश्वर की विलक्षणता अपरम्पार है। सृष्टि में द्वैत भावना को देखकर तथा जगत की विषमता को लक्ष्य करके ही कवि ने ईश्वर को 'दो रंगी' कहा है—'ठाकुर दो रंगी तो सदा से होते आये हैं।' ठाकुर कवि होने के साथ ही एक सच्चे भक्त हैं। किन्तु उनकी भक्ति-भावना किसी साम्प्रदाय के घेरे में बँधी नहीं है। जिस प्रकार वे मुक्त कवि हैं उसी प्रकार उन्मुक्त भक्त। ईश्वर के प्रति उन्होंने जो भाव निवेदित किये हैं—एक सच्चे भक्त के हृदय से निकले उद्‌गार हैं। डॉ० मनोहरलाल गौड़ के अनुसार—'भक्ति के क्षेत्र में ठाकुर ने भगवान की मधुर लीलाओं का या उनके रूप-सौन्दर्य का किसी वक्रता के सहारे वर्णन नहीं किया है।.........उनमें विशेषता एक तो भाव की सात्विकता की है दूसरी यह है कि भगवान की रूप सम्बन्धी ऐसी सर्वक्षाधारण की है जिसमें न तो सगुण-निर्गुण का विशेष आग्रह है और न किसी सम्प्रदाय का।.........सीधे सरल ढंग से उसकी विलक्षण महिमा का अनुभव किया है जो सर्वसाधारण की अनुभूति है।"

ठाकुर की नीति सम्बन्धी कविताएँ भी महत्वपूर्ण हैं। यद्यपि उन्होंने प्रेम के क्षेत्र में ही प्रायः नीति की बातें कही हैं पर उन कविताओं में नीतिकार कवियों जैसी शुष्कता न होकर सरसता और सजीवता है। अभिव्यक्ति को बोधगम्य बनाने के लिए उन्होंने लोक प्रचलित लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग किया है। इन्होंने उपदेशों के माध्यम से जन-जीवन को जाग्रत करने का भी श्लाघनीय प्रयत्न किया है—

मेरी कही मान मन सपनो सो जान जग,
छोड़ि अभिमान फेर ऐसो नहीं दाव रे।
दीन ह्वै दया को सीख सम्पत्ति बिपत भीख,
एक सम दीख नहीं बने हैं बनाव रे।
ठाकुर कहत ब्रजचन्द चन्दमुखी राधा,
वृन्दावन बीथिन में हरि गुन गाव रे।
बीति जात उमर भंडार तन रीति जात,
चीति जात काल के हवाले होत बावरे॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि ठाकुर के काव्य का भाव पक्ष अत्यन्त ही समृद्ध है। इन्होंने काव्य में अपने जीवन की अनुभूतियों का मार्मिक चित्रण किया है। शृंगार रस के चित्रण में तो इनकी मौलिकता अक्षुण्ण है। इसके अतिरिक्त प्रकृति, मानव, युगीन परिस्थितियों का बड़ा ही सजीव अंकन भी इनके काव्य की विशेषताएँ हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में—"ठाकुर बहुत ही सच्ची उमंग के कवि थे। इनमें कृत्रिमता का लेश नहीं। न तो कहीं व्यर्थ का शब्दाडम्बर है, न कल्पना की झूठी उड़ान और न अनुभूति के विरुद्ध भावों का उत्कर्ष। जैसे भावों का

जिस ढंग से मनुष्य मात्र अनुभव करते हैं वैसे भावों को उसी ढंग से यह कवि अपनी भाषा में उतार देता है ।.....ठाकुर सच्चे उदार, भावुक और हृदय के पारखी कवि थे इसी से इनकी कविताएँ विशेषतः सवैये इतने लोकप्रिय हुए । ऐसा स्वच्छन्द कवि किसी क्रमबद्ध होकर कविता करना भला कहाँ पसन्द करता ? जब जिस विषय पर जी में आया कुछ कहा ।" डॉ० बच्चनसिंह ने अपने ग्रन्थ 'रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना' में बताया है—'ठाकुर प्रेमोपासक होने के अतिरिक्त जीवन के अन्य पक्षों का भी ध्यान रखते थे । इसीलिए इनकी कविता की विषयवस्तु अधिक व्यापक है ।'

यह एक विरोधाभास ही है कि घनानन्द, ठाकुर आदि स्वच्छन्दतावादी कवियों ने बाह्य बन्धनों (सामाजिक और साहित्यिक दोनों ही) को अस्वीकार करके प्रेम की उन्मुक्त उड़ानें भरी हैं तो भी इन कवियों के काव्य में प्रेम का चित्रण मात्र उन्मुक्त ही है वह उच्छृंखल कहीं भी नहीं हो पाया है । अर्थात् ठाकुर आदि स्वच्छन्दवादी कवियों ने प्रेम के क्षेत्र में उन्मुक्त उडानें भरने के और सामाजिक नैतिकता के प्रति नवीन मान्यता के अपनाने के बाद भी उच्छृंखलता को प्रोत्साहित नहीं किया। रीतिकाल के जो रीतिबद्ध कवि थे वे तो प्रेम के क्षेत्र में उच्छृंखलता को अधिक प्रोत्साहित कर रहे थे ।

ठाकुर के काव्य में प्रेम सम्बन्धी उक्त दृष्टिकोण ही अनुस्यूत है । रीतिबद्ध कवियों के समान उनका प्रेम-चित्रण न तो स्थूल और मांसल है और न वह भोगपरक मान्यताओं पर आधृत शरीर की भूख का प्रदर्शन है; अपितु वह तो प्रेम के उस सहज और सरस रूप का चित्रण करता है जो मानव मात्र में धड़कन बनकर समाया रहता है । इनकी कविताओं में वैयक्तिक संस्पर्शों के प्रभाव से जो भावमयता और मार्मिकता आ गयी है वह इनको रीतिबद्ध कवियों से पृथक करती हैं । साथ ही उनके काव्य में भावाभिव्यक्ति की सहजता उन्हें घनानन्द जैसी रीतिमुक्त कवियों से भी अलग कर देती है । ठाकुर के काव्य में जो सामाजिक पर्वों-त्यौहारों तथा नीति-उपदेश के जो चित्रांकन हुए हैं वह भी उनकी निजी भाव-सम्पत्ति मालूम पड़ते हैं ।

शिल्प विधान

ठाकुर का काव्य अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है । भाव ही नहीं वरन् भाषा, अलंकार, छन्द की दृष्टि से भी वे विशिष्ट हैं । हिन्दी साहित्य के भक्ति-काल में ही ब्रजभाषा अपने शुद्ध और परिमार्जित रूप को पाकर काव्य भाषा के रूप में पदासीन हो चुकी थी । उस काल में अवधी भी साहित्यिक भाषा थी किन्तु जितना विकास और प्रचलन ब्रजभाषा का हुआ उतना अवधी का नहीं । रीतिकाल में तो काव्य भाषा के रूप मे एकमात्र ब्रजभाषा ही उपयुक्त थी। ब्रजभाषा माधुर्यगुण सम्पन्न भाषा है तथा शृंगार वर्णन के लिए अत्यन्त ही उपयुक्त । रीतिकाल म एक-मात्र ब्रजभाषा को ही काव्यभाषा के रूप में ग्रहण किये जाने का यह भी एक बहुत बड़ा कारण है । ठाकुर की भाषा भी शुद्ध एव परिमार्जित ब्रजभाषा है । सच तो

यह है कि ठाकुर तक आते-आते ब्रजभाषा पूर्ण परिमार्जित और परिनिष्ठित हो चुकी थी। यही कारण है कि इनके काव्य में हमे ब्रजभाषा के पूर्ण उत्कर्ष के दर्शन होते हैं। इनकी भाषा काव्योचित है ही साथ ही सहज एव सरल भी है। रीतिकालीन कवियों की तरह इन्होंने क्लिष्ट कल्पना एवं प्रयोगों द्वारा भाषा को बोझिल नहीं बनाया है। भाषा की जो स्वाभाविकता इनके काव्य में परिलक्षित होती है, अन्यत्र दुर्लभ है। इनकी भाषा की गति अत्यन्त ही स्वाभाविक है अतः सहजता और सरलता तो इसकी मुख्य विशेषता बन गयी हैं। इसी विशेषता के कारण इनकी भाषा में प्रभावोत्पादकता की अचूक शक्ति बन गयी है जो पाठकों को अभिभूत करने में पूर्ण सक्षम है। भाषा में स्वाभाविकता होने से प्रवाहमयता आती है। कृत्रिमता के लेशमात्र सन्निवेश से भाषा का प्रवाह अविरुद्ध हो जाता है। कवि ठाकुर में ऐसी बात पायी जाती है इनकी भाषा में जितनी ही स्वाभाविकता है उतनी प्रवाहात्मकता भी। सीधी-सादी भाषा में अपने भावों को अभिव्यक्त करना तथा उसे प्रवाहात्मक शक्ति प्रदान करना तो माना ठाकुर की निजी विशेषता बन गयी है।

ठाकुर शब्दों के धनी हैं। उनके पास ब्रजभाषा-शब्दावली का अक्षय कोष तो है ही, इसके अतिरिक्त संस्कृत, तत्सम, तद्भव, देशज, प्रादेशिक, ग्रामीण, विदेशी तथा स्वनिर्मित शब्दावली भी इसके काव्य में सहज रूप में प्रयुक्त हैं। उनके काव्य में अनेक प्रचलित देशज शब्दों का भी प्रयोग मिलता है जो इनके भाषाधिकार का परिचायक है। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

ठाकुर कहत या की बड़ी है कठिन बात
याको नहीं भूलि कहूँ बाँधियत बानो है।
डेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कवित्त कीबो खेल करि जानो है॥

प्रादेशिक भाषा में गृहीत शब्दावली के रूप में ठाकुर ने विशेषतः बुन्देलखण्डी शब्दावली को ग्रहण किया है। इनके काव्य में बुन्देली भाषा के शब्द प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। कहीं-कहीं तो इन्होंने इस भाषा के शब्दों को ब्रजभाषा के स्वरूप में ढाल दिया है। बुन्देली शब्दों से सम्बन्धित एक उद्धरण यहाँ दिया जाता है—

ठाकुर कहत जब मुरकी लली की ओर,
लोदन लफाई कह्यौ लीजै नाम हेर कै।

विदेशी भाषा के शब्दों में से ठाकुर के काव्य में मुख्य रूप से अरबी-फारसी के शब्द मिलते हैं। कवि ने जहाँ तक हो सका है प्रचलित शब्दों को ही अपनी भाषा में स्थानापन्न किया है। विदेशी होने के बावजूद भी ये इस प्रकार देशज शब्दों में खप गये हैं कि कभी कभी उनके स्वरूप को भी पहचानने में कठिनाई होती है। ठाकुर ने उन्हीं शब्दों का प्रयोग बड़ी ही सफलता के साथ किया है जो विभिन्न प्रान्तीय जन-भाषाओं में घुल-मिल से गये हैं।

कवि ने अपने काव्य में जिस भाषा का प्रयोग किया है वह पूर्णतः शुद्ध एवं परिमार्जित है। यही कारण है कि व्याकरणगत दोषों से इनकी भाषा सर्वथा मुक्त है। व्याकरण सम्मतता कवि के भाषा-ज्ञान का परिचायक है। इस क्षेत्र में ठाकुर अत्यन्त ही सफल कहे जायेंगे। इनके काव्य में व्याकरण सम्मतता होने का एक मूल कारण यह है कि इन्होंने न तो अनगढ़ भाषा का प्रयोग किया है तथा न शब्दों की तोड़-मरोड़। ठाकुर की भाषा मूलतः माधुर्य गुण मण्डित है और उन्होंने उसके अनुकूल ही शब्दों को संयोजित किया है। इनकी प्रत्येक पंक्ति से माधुर्य की धारा प्रवाहित होती है। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

पत्र बन बेलिन के किसलै कुसुम देखु,
बन बन बाग ये छबीले छबि छावने।
× × ×
आम पर मौर देखु मौर पर झौंर देखु,
झौरन पै भौंर देखु गुंजत सुहावने॥

उपर्युक्त पंक्तियों में प्रत्येक शब्द भावों के अनुकूल ही प्रयुक्त हैं तथा इनमें जितनी ही प्रवाहात्मकता है उतनी ही मधुरता भी। ठाकुर की सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि इन्होंने कर्ण-कटु वर्णों को भी मधुर भावों के अनुकूल ढाल दिया है और उससे निर्मित शब्दावली सरस और श्रुति मधुर बन पड़ी हैं। ट, ठ, ड, ढ, ण आदि कर्ण कटु वर्णों के कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं जो नितान्ततः मधुर एवं श्रुतिपेशल रूप में प्रयुक्त हैं—

सटपट सारी देखी घट पट वारी चीज
नटखट रावरे अजब अटपट है।
× × ×
चल दूर भटू हौं वृथा भटकी लगैं दूर के ढोल सुहावने री।

भाषा में मुहावरे तथा लोकोक्तियों को पिरोकर किसी भाव के सन्दर्भ में अभिव्यक्ति प्रदान करना सहज नहीं है। बिरले ही कवियों को इसके सुमन सामंजस्य तथा सटीक प्रयोग में सफलता मिलती है। कवि ठाकुर का काव्य तो मुहावरों और लोकोक्तियों से भरा पड़ा है। सचमुच में वे मुहावरे और लोकोक्तियों के सम्राट् हैं। यों तो ब्रजभाषा एक ऐसी सहज भाषा है जिसमें मुहावरों और लोकोक्तियों को पिरो देना सरल है, जैसा कि पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने कहा है—"मुहावरों और लोकोक्तियों के कुछ ऐसे प्रयोग इसमें हैं जो सर्वसामान्य काव्य भाषा के प्रयोक्ताओं द्वारा कभी प्रयुक्त नहीं हुए। ब्रजी के टकसाली रूप की पहचान यही है कि उसमें मुहावरों और लोकोक्तियों का सफल प्रयोग हो और साथ ही पूर्वीपन न हो।" किन्तु ध्यातव्य यह है कि कवि की सफलता मात्र मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयुक्तीकरण में नहीं अपितु उसके सार्थक एवं सटीक सन्निवेश में हैं। ठाकुर के काव्य में जो मुहावरे और लोकोक्तियाँ प्रयुक्त हैं सबके सब अप्रयत्नज हैं। यही कारण है

कि उनमें स्वाभाविक सौन्दर्य परिलक्षित होता है। ठाकुर के मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है—"बोलचाल की चलती भाषा में भाव को ज्यों का त्यों रख देना इस कवि का लक्ष्य रहा है। ब्रजभाषा की श्रृंगारी कविताएँ प्रायः स्त्री पात्रों के ही मुख की वाणी होती है, अतः स्थान-स्थान पर लोकोक्तियों का जो मनोहर विधान इस कवि ने किया उससे उक्तियों में और भी स्वाभाविकता आ गयी है। यह एक अनुभूत बात है कि स्त्रियाँ बात-बात में कहावतें कहा करती हैं। लोकोक्तियों का जैसा मधुर उपयोग ठाकुर ने किया है वैसा और किसी कवि ने नहीं।" वस्तुतः इनकी भाषा में प्रयुक्त मुहावरे तथा लोकोक्तियां आभूषण में जड़ित हीरे के समान हैं जिन्हें हटा देने पर उसका सौन्दर्य ही नष्ट हो जाता है। इसी तथ्य को दृष्टि में रखते हुए पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने कहा है—"ठाकुर के काव्य में लोकोक्तियाँ प्रसंग में ऐसी चिपकी हैं कि उन्हें निकाल देने से कविता का हीरा निकल जाता है।" उदाहरण के रूप में लाले पड़ना, सोने में सुगन्ध आदि मुहावरों का सटीक प्रयोग निम्न पंक्तियों में देखा जा सकता है—

जिन लालन चाह करी इतनी तिन्हें देखिबे के अब लाले परे।

× × × ×

रूपवन्त प्रानी जो कसकवन्त होतो कहूँ,
सोने में सुगन्ध के सराहिबे को को हतो।

उपर्युक्त मुहावरों को देखने से यह स्पष्ट पता चलता है कि ठाकुर ने उनका प्रयोग बड़ी ही सार्थकता के साथ किया है। इन मुहावरों के प्रयोग से भाषा सजीव हो उठी है तथा उसमें एक नवीन प्रभावोत्पादकता आ गयी है। यहाँ पर उनके काव्य में प्रयुक्त लोकोक्तियों पर थोड़ा विचार कर लेना अपेक्षित है। लोकोक्तियों के सहज प्रयोग में जितनी ख्याति ठाकुर को दी जा सकती है, अन्य कवियों को नहीं। इनकी एक-एक लोकोक्ति भाव को संवेद्य बनाती है तथा पाठकों पर अमिट छाप छोड़ती है।

मिश्रबन्धुओं ने इनकी लोकोक्तियों की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि "इन्होंने अपने छन्दों में लोकोक्तियों को बहुत रखा है। इनके बहुतेरे पद स्वयं कहावत हो गये हैं।" लोकोक्तियों के माध्यम से कवि ने जीवन के महत्वपूर्ण अनुभवों को अंकित कर दिया है। कुछ महत्वपूर्ण लोकोक्तियों के उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं—

(i) माया मिली नहि राम मिले दुबिधा में गये सजनी सुनु दोऊ।

(ii) ह्वै है नहीं मुरगा जेहि गाँव भटू तिहि गाँव का भोर ना ह्वै है।

अन्ततः आचार्य चतुरसेन शास्त्री के शब्दों में यही कहा जा सकता है—"ठाकुर की लोकोक्ति भावना भी बड़ी चोखी है। लोकोक्ति वाङ्मय को काव्योपयोगी बनाने में इन्होने खास सफलता प्राप्त की है।" रीतिबद्ध कवि तो लोक-मानस से दूर राजदरबारों में चमक-दमक पूर्ण वातावरण में ही अपने को सीमित किये हुये थे किन्तु ठाकुर राजदरबार में रहते हुए भी लोक जीवन के निकट ही अपने को पाते

थे। उनके छन्दों में सर्वत्र पायी जाने वाली लोकोक्तियाँ इस बात का प्रमाण हैं कि लोकजीवन में उनकी गहरी पैठ थी। डॉ० विजयेन्द्र स्नातक के शब्दों में, "ठाकुर की सबसे बड़ी काव्य चातुरी उनकी लोकोक्तियों में लक्षित होती है जिनके द्वारा उन्होंने जनमानस के समीप पहुँचने में अद्भुत सफलता प्राप्त की।"

रीतिकालीन कवियों का काव्य तो प्रायः लक्षणा से ही सम्बन्धित है। अर्थ को सीधे न कहकर कवि उसे मात्र व्यंजित कर देता है। ठाकुर को भी लक्षणा के प्रयोग में पूर्ण सफलता मिली है। एक नायक महोदय की निष्ठुरता को कवि ने 'रौंदि हियो' और 'छतिया पै गली करी' जैसे लाक्षणिक प्रयोग द्वारा किस प्रकार अभिव्यंजित कर दिया है, इन पंक्तियों में देखिये—

जा दिन जान लगे परदेस कौं रौंदि हियो छतिया पै गली करी।
औध की आस बताई दगा करि राखि गये फिर स्वाँस चली करी।

'औध की आस बताई दगा करि' में भी कितनी सुन्दर व्यंजना है।

दिन डूबते ही प्रियतम की प्रतीक्षा में प्रेयसी किसी प्रकार आधी रात तक किवाड़ों से चिपक कर प्रतीक्षारत रहती है—कवि ने बड़ा ही मनोहर चित्र लाक्षणिकता द्वारा अंकित कर दिया है।

काव्यभाषा में संगीतात्मकता का संगम अद्भुत सौन्दर्य-सृष्टि करा देती है। इस ध्वन्यात्मकता के गुण के द्वारा ही अभिव्यक्त भावों या वस्तुओं का एक मनोरम चित्र हमारे मानस-चक्षुओं के समक्ष कौंधने लगता है। ठाकुर के काव्य में भावों एवं वस्तुओं के जो अनुपम शब्द-चित्रों के दर्शन होते हैं उनके मूल में नाद सौन्दर्य अथवा ध्वन्यर्थव्यंजना ही है। उदाहरणस्वरूप निम्न छन्द अवलोकनीय है—

दौरि दौरि दमकि दमकि दूरि दामिनी यौं
    दुन्द देत दसहूँ दिसान दरसतु है।
घूमि घूमि घहरि घहरि घन घहरात,
    घेरि घेरि घोर घनो सोर सरसतु है।।
ठाकुर कहत पिक पीकि पीकि पी को रटै,
    प्यारो परदेश पापी प्रान तरसतु है।
झूमि-झूमि झुकि-झुकि झमकि-झमकि आली,
    रिमझिम-रिमझिम असाढ़ बरसतु है।।

उपर्युक्त पंक्तियों के सुनने या पढ़ने मात्र से ही हमारे सामने पावस ऋतु का चित्र मूर्तिमान हो उठता है। 'दौरि दौरि दमकि दुरि दामिनी यों', 'घूम-घूम घहरि-घहरि उन घहरात' से बिजली की चमक तथा मेघों के गर्जन एक साथ रूपायित हो जाते हैं। 'झूमि-झूमि झुकि-झुकि झमकि-झमकि······रिमझिम झिमिक' से वर्षा का सुहावना दृश्य आँखो के सामने नाचने लगता है। इन पंक्तियों में आनुप्रासिकता की झड़ी से पावसकालीन वातावरण झर-झर बरसता या मूर्त्तमत हो उठता है। शब्दों से ध्वनियाँ इस प्रकार निःसृत होती हैं कि नाद-सौन्दर्य का समां बँध जाता है।

रीतिकालीन कवियों की भाषा में जो कृत्रिमता कहीं-कहीं दीख पड़ती है, ठाकुर उससे साफ बरी हैं। उनकी भाषा सर्वत्र सहजता, सरसता और सरलता का सुन्दर संगम दीख पड़ता है। यथावश्यक लाक्षणिकता और उक्तिवैचित्र्य के कारण उनकी भाषा काव्य-मर्मज्ञों के आकर्षण का केन्द्र भी बनी है। ठाकुर की काव्यभाषा की प्रशंसा करते हुए डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' ने लिखा है—"इनकी भाषा सुव्यवस्थित, सर्वसाधारण मुहावरेदार और स्पष्ट है। शब्दाडम्बर और अनुप्रासादि सम्बन्धी कला-कौशल का कृत्रिम रूप तथा अलंकारादि की अरोचक कारीगरी उसमें नहीं है। पदावली साफ सुथरी और सुसगठित होती हुई प्रचलित शैली पर है। लोकोक्तियों का सुन्दर, उपयुक्त तथा भावोचित उपयोग उसकी स्वाभाविकता को और भी बढ़ा देता है।"

सचमुच ठाकुर में सरल, सहज और सरल भाषा का जो सुन्दर निदर्शन मिलता है वह घनानन्द में भी उस रूप में सुलभ नहीं। रीतिकाल में ब्रजभाषा संस्कारित और परिमार्जित होकर पर्याप्त प्रसार पा चुकी थी पर उसके लोकधर्मी रूप पर कुछ आघात भी होने लगा था। ठाकुर ने उसे लोक-मानस की पीठिका पर पुनः प्रतिष्ठित किया।

कहा जा चुका है कि ठाकुर का काव्य सहज-स्वाभाविक है, अतः इनके काव्य में प्रयत्नज अलंकारों का सर्वथा अभाव है। जो कुछ भी अलंकार इनके काव्य में प्रयुक्त हुए हैं वे सहज एवं स्वाभाविक रूप में आए हैं। सच तो यह है कि वे एक रीतिमुक्त कवि हैं जिनका लक्ष्य रीति की अलंकृत एवं पिटी-पिटाई लीक का त्याग कर काव्य रचना का रहा है। फिर भी कवि होने के नाते, स्वभावज अलंकारों का त्याग भी नहीं कर सकते थे। दूसरी बात, तत्कालीन काव्य-रचना की परिपाटी से कुछ अंशों में प्रभावित होना भी स्वाभाविक जान पड़ता है। मात्र आलंकारिक चमत्कार और पांडित्य प्रदर्शन को वे घृणामयी दृष्टि से देखते थे। उन्होंने स्वयं लिखा भी है—

डेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कवित्त कीबी खेल करि जानो है।

हरिऔध जी ने ठाकुरादि कवियों की रचनाओं के सम्बन्ध में अपना विचार प्रकट करते हुए कहा है—'इन रचनाओं की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि ये सीधे शब्दों में रस की धार बहा देते हैं। न अनुप्रास की परवाह, न यमक की खोज, न वर्ण-मैत्री की चिन्ता। वे अपनी बात अपनी ही बोलचाल में कहे जाते हैं और हृदय को अपनी ओर खींच लेते हैं।'

शब्दालंकार में भी ठाकुर का सबसे प्रिय अलंकार अनुप्रास है। इन्होंने जहाँ-जहाँ अनुप्रास अलंकार की योजना की है वहाँ उनका लक्ष्य मात्र अनुप्रासिक छटा दिखाना नहीं रहा है अपितु भावोत्कर्ष को उद्घाटित करना ही रहा है। भाव अथवा

विषय को मूर्तिमान रूप देने के क्रम में कवि के छन्दों में अनायास ही अनुप्रास की झड़ी लग गयी है। उदाहरणार्थ एक पावस ऋतु का चित्र लिया जा सकता है जिनमें कवि का मूल उद्देश्य दृश्यांकन के माध्यम से भावों एवं प्रभावों को ही अभिव्यक्त करना रहा है—

दौरि दौरि दमकि दमकि दुरि दामिनि यौं,
दुन्द देत दसहूँ दिसान दरसतु है।

इस उदाहरण में अनुप्रास अलंकार के द्वारा कवि ने वर्षा का स्पष्ट चित्र अंकित कर दिया है जिसमे वर्षाकालीन वातावरण सजीव सा हो गया है। इस उदाहरण की पंक्तियों से ध्वन्यात्मकता भी निःसृत हो रही है। अतः यहाँ ध्वन्यर्थव्यंजना अलंकार भी माना जायेगा। यद्यपि हिन्दी साहित्य में ध्वन्यर्थव्यंजना अलंकार छायावादी काव्य की देन तथा पाश्चात्य प्रभाव माना जाता है किन्तु उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि आधुनिक हिन्दी के पूर्वरचित साहित्य में भी इस अलंकार का प्रयोग होता आया है, भले ही उस काल में इसका अलग नामकरण न किया हो। ठाकुर के काव्य में अनुप्रास की छटा प्रायः सर्वत्र ही विद्यमान है।

अनुप्रास का एक और सुन्दर-सरस उदाहरण दृष्टव्य है जिसमें वर्णमैत्री के कारण दृश्य सजीव हो उठा है—

सननात अंध्यारी छटा छननात घटा घन की अरी धरती सो।
झननात झिल्ली सुर सोर महा बरही फिरैं मेघन टेरती सी।

शब्दालंकार में ठाकुर ने यमक को भी यत्र-तत्र नियोजित किया है। किन्तु इनकी संख्या अधिक नहीं है। उदाहरण के रूप में एक दो उद्धरण ही पर्याप्त हैं—

औरन के नैन कहा नैनन के लेखे आवैं,
ऐसे नैन होंइ तब नैन कहियत है।

उपर्युक्त उदाहरणों में 'नैन' शब्द के द्वारा यमक अलंकार की योजना की गयी है। ठाकुर को अर्थालंकारों में से उपमा, उत्प्रेक्षा अत्यधिक प्रिय हैं। इन्होंने इन दोनों अलंकारों की योजना बखूबी से की है। यत्र-तत्र इन्होंने रूपक एवं सांगरूपक अलकारों के माध्यम से भी अभिव्यक्ति दी है। इसके अतिरिक्त अतिशयोक्ति, विभावना, व्यतिरेक आदि अलंकारों को भी इन्होंने यथास्थान नियोजित किया है। भावों को प्रभावात्मक बनाने के लिए वीप्सा का सहारा भी लिया गया है।

कवि के सूक्ष्म कल्पना-वैभव का पता हमें उत्प्रेक्षा अलंकार के नियोजन से चल जाता है। कवि कभी तो मेघ मालाओं के बीच कौंधती हुई बिजली को देखकर 'काम-कृपाण के द्वारा मेघ मापन' की उत्प्रेक्षा करता है—

ठाकुर ठाढ़ी मनोहर पास कहै बर बाल निसापति सी।
काम कृपाण, कि डोरी लिये चपला फिरै मेघन मापति सी॥

कवि ने उपमानों का चयन लोक जीवन से किया है अतः उसकी कविता आम आदमी के आस-पास की है।

सौन्दर्य के साक्षात्कार या प्रेम की गहन अनुभूति में अनेक बार कविवर ठाकुर सीधी सादी भाषा में जब अभीष्ट प्रभाव की सृष्टि नहीं कर पाते हैं तो ऐसे स्थलों पर वे कल्पना की उड़ान भर मनोरम अप्रस्तुत विधान करने में पूर्ण समर्थ होते हैं। इस प्रकार सौन्दर्य-सृष्टि में या प्रेमानुभूति के सम्वेदनशील चित्रण में उनका अलंकार-विधान अत्यन्त सफल रहा है। उनका अलंकार-प्रयोग उनके भावोत्कर्ष में सहायक ही सिद्ध हुआ है, साथ ही उससे कवि के काव्य कौशल और अधिकार का भी पर्याप्त प्रमाण मिला है। अतः ठाकुर ने अलंकारों का उचित और सार्थक प्रयोग में अद्भुत सूझबूझ और संयम का परिचय देकर स्वयं को प्रवीण कवि भी सिद्ध कर दिया है।

हिन्दी साहित्य में रीतिकाल तक आते-आते कई प्रकार के छन्द विकसित हो चुके थे। उनमें विशेष प्रचलन दोहा-चौपाई तथा कवित्त-सवैया का था। रीतिकाल में तो जितनी प्रसिद्धि कवित्त-सवैये को मिली उतनी किसी अन्य छन्द को नहीं। कवि ठाकुर ने अपने काव्य में मुख्य रूप से दो प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है—सवैया और कवित्त। ठाकुर ने अपने काव्य में दुर्मिल और मत्तगयंद सवैयों का सफल और सरस प्रयोग किया है। इन सवैयों के अतिरिक्त ठाकुर ने किरीट और मदिरा सवैया का सफल प्रयोग भी अपने काव्य में किया है।

कवित्त भी रीतिकालीन काव्यों में एक बहुप्रयुक्त छन्द है। इसमें ३१-३२ वर्ण होते हैं। इसमें गण अनियमित होते हैं। किन्तु इस छन्द में यति और गति पर विशेष ध्यान दिया जाता है। कविवर निराला ने इसे जातीय छन्द कहा है। इस छन्द में पूर्ण गेयता भी होती है इसीलिए यह जन-जन का कण्ठहार भी बना रहा है। कवित्त के मुख्यतः तीन भेद किये जाते हैं—मनहर, रूप घनाक्षरी और देव घनाक्षरी। कवित्त में यति का क्रम आठ-आठ या आठ-सात अक्षरों के बाद होता है। ठाकुर के काव्य में मुख्य रूप से रूपघनाक्षरी कवित्त का प्रयोग देखने को मिलता है। इसमें कवि ने यत्र-तत्र यति और गति की ओर ध्यान दिया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि ठाकुर ने छन्द-विधान को अपने काव्य में समुचित ढंग से प्रस्तुत किया है। इतना अवश्य कहा जायगा कि स्वच्छन्द प्रवृत्ति होने के कारण उन्होंने यत्र-तत्र यति और गति तथा लघु-गुरु की उपेक्षा भी कर दी है जो छन्द-विधान की दृष्टि से इनका दोष ही कहा जायगा। फिर भी इन्होंने जिन छन्दों का विधान किया है वे पूर्ण भावानुकूल हैं और भावाभिव्यक्ति में पूर्ण सक्षम हैं। काव्य में छन्दों का विधान भावों के अनुकूल ही किया जाना यथेष्ट होता है और ठाकुर ने ऐसा ही किया भी है। इनके प्रत्येक छन्द कटे-छटे से प्रतीत होते हैं। लय तो इनके छन्दों का सर्वस्व है। अतः हम यही कहेंगे कि कवि ठाकुर ने समुचित छन्द-विधान किया है जो कहीं-कहीं सदोष होते हुए भी प्रशंसनीय है।

ठाकुर की कविताएँ परिमाण में कम ही मिल पायी हैं परन्तु प्रसिद्धि और गुणवत्ता में वे कम नहीं ठहरते। रीतिकाल के पिटे-पिटाये ढर्रे से पृथक ठाकर ने अपना स्वतन्त्र पथ चुना और उस पर चलकर ही उन्होंने उच्चकोटि की कविता रचकर काव्य-रसिकों और पण्डितों को चकित कर दिया। रीतिकवियों ने मानव-हृदय की सर्वोत्तम सिद्धि स्नेह भाव धारा को भी संकीर्ण सा कर दिया था। परन्तु ठाकुर जैसे भाव सिद्ध कवि ने प्रेम की परिधि में पवित्रता का सरस संचार कर उसका खिलवाड़ होना खत्म कराया।

रीति की बंधी-बँधायी परम्परा से मुक्त कविवर ठाकुर ने मन की उमंग पर कविता की है। वे न तो किसी बाह्य दबाव या बन्धन को स्वीकारते थे और न साहित्यिक प्रतिबन्ध। वे मनमौजी कवि थे, इसीलिए विद्वानों ने उन्हें स्वच्छन्द काव्य-धारा का कवि बताया है। यही कारण है कि उनके काव्य का अन्तरंग पक्ष जितना सरस और समृद्ध है, उतना उसका बहिरंग पक्ष समृद्ध नहीं हो पाया है। रीति कवियों को काव्य के बहिरंग पक्ष को समुन्नत और समृद्ध बनाने की चिन्ता ही अधिक होती थी फलतः मन की सच्ची उमंग वहाँ शब्दों की महीन पच्चीकारी और अलंकारों की सजावट में दबी सी दिखायी पड़ती थी। रीति कवियों के समान ठाकुर ने अपनी कविता को दरबारी बनाना पसन्द नहीं किया। यद्यपि कहा जाता है कि वे महाराज किशोरी सिंह और उनके पुत्र राजा पारीछत के दरबार में रहे थे तो भी दरबारी कविता करना उन्हें पसन्द न था। वे सच्ची उमग-रंग के कवि थे अतः प्रदर्शन मात्र के लिए अपनी भावाभिव्यक्ति को अलंकारादि से बोझिल बना देना उन्हें रुचिकर न था। कविता लिखना उन्होंने व्यवसाय नहीं बनाया था अतः मन की बात की सहज-समर्थ अभिव्यक्ति में ही उन्हें आह्लाद मिलता था। इसका मतलब यह भी नहीं है कि वे अपनी कविता के बहिरंग पक्ष को सँवारने के प्रति पूर्णतः उदासीन थे। रीति कविता का सर्वत्र बोलबाला होने के कारण तथा स्वयं उनका राज-दरबार से सम्बद्ध होने के कारण यह सम्भव भी नहीं था कि वे अपनी कविता के कलापक्ष के साज-सँवार के प्रति उदासीन रह पाते। किन्तु इस साज-सँवार के कारण उन्होंने अंतरंग पक्ष को कहीं भी क्षतिग्रस्त नहीं होने दिया है। अंतरंग पक्ष की अभिव्यक्ति के लिए यदि कहीं पर कोई कलात्मक बन्धन उन्हें सुग्राह्य लगा है तो उसे अपनाने में उनका तनिक भी आग्रह नहीं रहा है। स्वच्छन्द धारा के अन्य समर्थ कवि घनानन्द के काव्य का बहिरंग पक्ष भी पूर्ण समृद्ध है किन्तु ठाकुर अधिक मन-मौजी और अक्खड़ कवि हैं अतः उन्हे कलाशास्त्र के बन्धनो की परवाह कम है। साथ ही यह कहने में भी हमें सकोच नहीं है कि ठाकुर में घनानन्द जैसी गहरी सम्वेदनशीलता और ऊँची काव्य प्रतिभा नहीं है अतः उनके काव्य मे न तो घनानन्द जैसी भावों की गहराई है और न वैसी कलात्मक सुघड़ता और परिपुष्टता। हाँ, हमें यह भी कहना होगा कि ठाकुर के सीमित सख्या मे रचित कवित्तों मे भावों का वैविध्य घनानन्द से अधिक है। घनानन्द अधिकतर अपनी सुजान प्रेयसी के प्रेमराज्य

में ही विचरण करते हैं जबकि ठाकुर उस प्रेमलोक से बाहर निकलकर समाज पर भी दृष्टिपात करते हैं और सांस्कृतिक परिवेश मे भी अपने को सीधे सम्बद्ध रखते हैं। साथ ही कलात्मक पक्ष समृद्ध होने के कारण घनानन्द का काव्य साहित्यिक सूझबूझ और पारगत पाठकों के मतलब का अधिक है—सामान्य पाठक तो उनके अधिकांश छन्दों के भावों का अवगाहन करने में असमर्थ ही रहेगा किन्तु ठाकुर का अधिकांश काव्य तो सामान्य पाठकों के लिए भी बोधगम्य है। ठाकुर की यह उपलब्धि भी कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है। स्वच्छन्दधारा के कवियों में ठाकुर ही सबसे अधिक अपने आपको रीति परम्पराओं से मुक्त रखने में समर्थ हो पाये हैं। साथ ही सबसे अधिक वे ही अपनी कविता को सामान्य पाठकों की समझ की परिधि में लाने में भी सफल हो पाये हैं। इसके साथ ही वैयक्तिक सुख-दुख की भावनाओं के परिसीमन से बाहर आकर वे ही सबसे अधिक सामाजिकता के स्वर को मुखरित कर पाये हैं। अपने काव्य में उन्होने जिस तरह डूब कर सामाजिक उत्सवों और आनन्दोल्लासमय जन-जीवन का चित्र उपस्थित किया है उससे देश के सांस्कृतिक वैभव का परिचय तो मिलता ही है—कवि के सामाजिक दायित्व की भूमिका का भी पूरा प्रमाण मिलता है। आधुनिक कथाकार वृन्दावनलाल वर्मा ने जैसे अपने साहित्य में बुन्देलखण्ड के अतीतकालीन जन-जीवन के जीवन्त चित्र प्रस्तुत किये हैं वैसे ही जीवन्त चित्र—भले ही उतने परिमाण में न सही—हमें ठाकुर के काव्य में मिलते हैं। समाज और संस्कृति से जुड़े रहने की यह प्रवृत्ति हमें सबसे अधिक ठाकुर के काव्य में ही दीख पड़ती है। लाक चेतना के जितने अधिक समीप ये रह पाये हैं उतने अन्य कवि नहीं। बिहारी, पद्माकर आदि कवियों का काव्य शहरी संस्कृति का 'नागरकाव्य' है किन्तु ठाकुर का काव्य लोककाव्य है। शहरी बनावटीपन से यथासम्भव दूर रहकर उनके काव्य में लोक मानस की धड़कन सुनायी पड़ती है।

बोधा

बोधा का व्यक्तित्व और कृतित्व रीति-स्वच्छन्द कवियों में भी अपनी विशिष्ट पहचान बनाये रखता है। घनानन्द को जैसे 'सुजान' से प्रेम था वैसे ही बोधा 'सुजान' के प्रेम में मतवाले थे। सुभान के प्रति उनका सहज स्नेह ही उनके काव्य का सर्वस्व बन गया है। सुभान ने उन्हें प्रेमी व्यक्तित्व प्रदान किया तो उसके प्रेम की तड़प ने ही उन्हें कवि बनाया। बोधा के बारे में वही सच है जो 'गाथा सप्तशती' में कहा है—सच्चे सौन्दर्य को निहारकर सब कोई सुध-बुध भूल जाते हैं। एक बार सौन्दर्य के साक्षात्कार से नयनों को ऐसा चस्का लग जाता है कि वे काबू से बाहर हो जाते हैं फिर चाहे कोई निंदा करे या प्रशंसा, स्वर्ग में जगह मिले या नरक में।

बोधा के काव्य में प्रिय से मिलने की आकांक्षा तड़प बन कर वैसे ही समायी है जैसे बादलों में बिजली। मिलने की आकांक्षा मानव मात्र में मूल प्रवृत्ति के रूप में है। पाश्चात्य मनीषी स्कीलर की सम्मति के अनुसार "जीवन की इमारत प्रेम और क्षुधा की नींव पर उठी है, यदि ये दोनों न हों तो कुछ भी शेष न रह जाये। प्रेम ही सृष्टि और जगत में सौन्दर्य का विकास करता है।" बोधा-काव्य में प्रेम की वही पावन पुकार सुनाई पड़ती है। फूलों में जैसे सुकुमारता, सुगंध और सुन्दरता पायी जाती है वैसे भी मानव-मन में प्रेम के प्रति प्यास और सौन्दर्य के प्रति असीम ललक पाई जाती है। पर प्रेम के पंथ पर चलना उतना आसान नहीं, वह तो तलवार की धार पर दौड़ने के समान है। बोधा के अनुसार—

> कवि बोधा अनी घनी नेजहुँ ते चढ़ि तापै न चित्त डरावनो है।
> यह प्रेम को पंथ कराल महा तरवार की धार पै धावनो है॥

जैसे शभु ने हलाहल पिया ऐसे ही प्रेमी जन को विषपान जैसी अनुभूति होती है। बोधा का मत है—

> यह प्रेम को पंथ हलाहल है सु तौ वेद पुरानऊँ गावत हैं।

जो प्रेम पंथ पर चलता है वही इसकी अनुभूति कर सकता है। 'जाके पाँव न परी बिवाई सो क्या जाने पीर पराई' के अनुसार प्रेमानुभव से विहीन व्यक्ति बोधा की प्रेमानुभूति की पीड़ा को नहीं समझ सकते—

> कहिबे को व्यथा सुनिबे को हँसी, को दया सुनि कै उर आनतु है।
> अरु पीर घटै तजि धीर सखी दुख को नहीं कापै बखानतु है।

कवि बोधा कहै में संवाद कहा को हमारी कही पुनि मानतु है।
हमै पूरी लगी कै अधूरी लगी यह जीव हमारोई जानतु है॥

प्रेमानुभव प्राप्त व्यक्ति की दशा बड़ी विचित्र हो जाती है। रात की नींद उड़ जाती है, भूख लगती नहीं और लोक मर्यादा की भीति से प्रिय से मिलन भी नहीं हो पाता। प्रेमानुभूति की इस विषम दशा का स्वानुभूत और मर्मस्पर्शी चित्रण बोधा ने इस प्रकार किया है—

निसि बासर नींद औ भूख नहीं जब ते हिय मैं यह आनि बसी।
मिलतै न बनै जग की भय ते बरजी न रहै हिय की हुलसी॥
कवि बोधा सुनो हे सुभान हितू उर अन्तर प्रेम की गाँस गसी।
तिनको कल कैसे परै निरदै जिनकी है कुसाँगरे आँख कसी॥

डा० मनोहरलाल गौड़ के अनुसार—"उन्होंने जिस प्रकार सोचा है, सीधा उसी प्रकार कह दिया है। उसे कृत्रिम नहीं बनाया। अपनी समस्त रचना में सुभान का किसी न किसी प्रकार से प्रसंग रखा है। अपने हृदय को, अपने व्यक्तित्व को इस प्रकार स्पष्ट रूप से प्रकट करना बिना स्वच्छन्द भावना के नहीं हो सकता। रीति मार्ग में तो 'शोभनता' 'सहजता' को आवृत्त कर लेती है। बोधा स्पष्ट कहते हैं—

'एक सुभान के आनन पै कुरबान जहाँ लगि रूप जहाँ को।'

बोधा का प्रतिपाद्य

बोधा अन्य रीति स्वच्छन्द कवियों के समान प्रेम-पंथ के धीर-गंभीर पथिक थे। उनका प्रेम लोक के धरातल पर खड़ा था। सीधे अपने प्रिय को सम्बोधित करता हुआ। किसी को बीच में लाने का बहाना उसे प्रिय नहीं। डा० बच्चनसिंह के अनुसार—"जब प्रेमी के शरीर, मन और आत्मा से प्रेमिका के शरीर, मन और आत्मा का तादात्म्य हो जाता है तब वे प्रेम के कोमल तन्तुओ में सर्वदा के लिए बँध जाते हैं। यह सम्बन्ध इतना प्रभावशाली, दृढ़ और गहरा होता है कि एक सम्बन्ध के बाद मनुष्य दूसरे सम्बन्ध की कल्पना भी नहीं कर सकता। रीतिकाल के स्वच्छन्द कवियों में घनानंद और बोधा ऐसे ही कवि थे।"

प्रेम के लिए लोकलाज की चिंता न करना ही बोधा के मतानुसार प्रीति-रीति का पालन करना है—

लोक की लाज औ सोच प्रलोक की बारिये प्रीति के ऊपर दोऊ।
गाँव को गेह को देह को नातो सनेह में हाँतो करै पुनि सोऊ॥
'बोधा' सुनीति निबाह करै घर ऊपर जाके नहीं सिर होऊ।
लोक की भीति डेरात जो मीत तौ प्रीति के पैड़े जनि कोऊ॥

यह निधड़कता और निर्भीकता ही प्रेमी कवि बोधा को प्रेम-पंथ में दौड़ लगवाती है।

रीति-कालिक स्वच्छन्द काव्यधारा के कवियों ने कदाचित् पहली बार लोक-मर्यादाओं की सीमा का अतिक्रमण कर स्वच्छन्द प्रेम की मुक्त धारा को प्रवाहित होने दिया। बोधा इसके एक उदाहरण हैं। उनका 'माधवानल काम कंदला' काव्य में उनके स्वच्छन्दवादी प्रेम सिद्धान्तों का प्रकाशन हुआ है। बोधा द्वारा इस आख्यान का चुनाव ही इस बात का द्योतक है कि प्रेम विधि-निषेधों के घेरे में नहीं बँध सकता। दूसरे बोधा ने एक प्रश्न के उत्तर में अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करने का अवसर निकाल लिया है। वह प्रश्न है स्वकीया प्रेम उत्तम है या परकीया प्रेम? शास्त्रीय विधियों के अनुसार स्वकीया प्रेम परम प्रीति की प्रतिष्ठा का अधिकारी है। परकीया प्रेम को शास्त्रकारों ने निकृष्ट और गणिका प्रेम को अधमाधम माना है। 'माधवानल काम कंदला' के प्रारम्भ में यही समस्या उठाई गई है—

> प्रीति परम कहि कौन, निज पति उपपति गणिका की,
> ये बिरही कहि तीन जो न होय सबते सरस।

'परम प्रीति' की संज्ञा किस प्रेम को दी जाय, यह प्रश्न शास्त्रीय परिधि में भी स्वयं प्रश्न चिह्न बन जाता है। इस सोरठे की अन्तिम पंक्ति मे एक दूसरी बात उठाई गई है। इसमें पूछा यह गया है कि जो सबसे सरस न हो वह कौन सा प्रेम है? धर्मशास्त्र की दृष्टि से इस प्रश्न का उत्तर देना जितना सरल है, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वह उतना ही कठिन भी है।

बोधा ने चार प्रकार की प्रीति मानी है—आँख, कान, बुद्धि और ज्ञान की प्रीति। पतंग की प्रीति पहले प्रकार की, कुरंग की प्रीति दूसरे प्रकार की, माधव की तीसरी प्रकार की और भृङ्ग-कीट की चौथ प्रकार की है—

> आंख कान बुधि ज्ञान की प्रीति चार विधि जान।
> चार भांति जिनके यथा बिरही कहे बखान॥
> प्रथम पतंग कुरंग पुनि माधव नल की प्रीति।
> चौथी यारी ज्ञानमय भृङ्ग कीट की रीति॥

बुद्धि की प्रीति का तात्पर्य सम्भवतः निश्चयपूर्वक प्रीति करने से है। आगे बोधा ने उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—

> भांति अनेक प्रीति जग माहीं। सबहि सरस कोऊ घट नाहीं॥
> जाको मन बिरझो है जामें। सुखी होत सोई लखि तामें॥
> याते सुन यारी दिल दायक। कीजै प्रीति निबाहिये लायक॥
> प्रीति करै पुनि और निबाहै। सो आशिक सब जगत सराहै॥

कोई भी प्रेम किसी से घटकर नहीं है क्योंकि सभी समान रूप से सरस हैं। जिसका मन जहाँ पर उलझ जाता है उसको वहीं पर प्रीति अनुभूत होती है। किन्तु प्रत्येक सरस प्रीति के पीछे बोधा ने एक शर्त लगाई है और वह शर्त है प्रीति करने के बाद उसका निर्वाह करना जो तलवार की धार पर धावनो है।

माधव ने कंदला गणिका से प्रीति की थी। उसकी प्रीति को आदर्श प्रीति इसलिये माना गया है कि उसने इसका निर्वाह किया। गणिका की प्रीति को भी स्वकीया की प्रीति के समकक्ष रख देना बोधा की स्वतन्त्र विचारणा का द्योतक है। आज का कोई भी मनोवैज्ञानिक अपनी विवेचना में बोधा का ही समर्थन करेगा।

भारतीय प्रेमाख्यानकों में अनेक ऐसे हैं जो प्रेम की स्वच्छन्द मनोवृत्ति के द्योतक हैं लेकिन 'जन्मान्तरवाद' के सहारे कवियों ने इन्हें समाज विरोधी होने से बचा लिया है। 'माधवानल काम कंदला' में भी माधव काम और कंदला रति के अवतार हैं। लीलावती कामदेव को पति के रूप में प्राप्त करने का वरदान प्राप्त कर चुकी है। फिर भी सिद्धान्त रूप से बोधा ने परम प्रीति का जो निरूपण किया है उसमें इससे किसी प्रकार की विकृति नहीं आती क्योंकि रति-कामदेव के अभिशप्त होने तथा अवतार लेने की कथा उक्त सिद्धान्त कथन के बाद ही आती है।

बोधा ने सूफियों की भाँति अनेक स्थलों पर 'इश्क हकीकी' का उल्लेख भी किया है। किन्तु सूफियों की 'इश्क हकीकी' से इनकी इश्क हकीकी में अन्तर है—

होय सजाजी में जहाँ इश्क हकीकी खूब,
सो साँचो ब्रजराज है जो मेरा महबूब।

यहाँ 'मजाजी' सूफियों के मत से 'हकीकी' तक पहुँचने का सोपान नहीं बताया गया है, बल्कि 'इश्कहकीकी' स्वयं 'इश्कमजाजी' में अन्तर्निहित है। 'महबूब' के प्रति जो प्रेम है उसका ईश्वर या कृष्ण के प्रति ढलना भी आवश्यक नहीं है क्योंकि यहाँ 'महबूब' ही सच्चा ब्रजराज है। इसके प्रमाण में बोधा ने लिखा है— 'लोक की लाज को सोच प्रलोक को वारिये प्रीति के ऊपर दोऊ।' जब परलोक की चिन्ता है ही नहीं तब ईश्वर के प्रति प्रेम के परिवर्तन का कोई प्रश्न ही नहीं उठ पाता। इसी बात को आगे भी स्पष्टतः कहा गया है—

मगन रहत रतिरंग में गावत रस शृंगार।
टेर कही ब्रजराज ने सोई मेरो यार॥

बोधा का स्पष्ट कथन है कि बिना प्रिय के स्वर्ग की उपलब्धि भी उल्लसित नहीं कर सकती। माधव का कहना है कि बिना अपनी प्रियतमा कंदला के मैं कहीं नहीं जा सकता—

आपहि होके स्वारथी मोंहि चलै लै राम।
तो न जाउँ वा लोक को बिना कंदला बाम॥
बिन यारी कालै करौं सुरपुर हू को वास।
मित्र रहित मरिबो भलो कीन्हें नरक निवास॥

माधव के इस कथन से स्पष्ट है कि वह इश्कहकीकी को इश्कमजाजी में ही अन्तर्भक्त मानता है। इसलिए मुक्ति प्राप्त करने में उसे कोई संशय नही है। वैसे तो बोधा को प्रेम कथाओं में आध्यात्मिक तत्वों के गूँथने की आवश्यकता प्रतीत नहीं

होती थी इसलिए इन्होंने उन्मुक्त भाव से लौकिक प्रेम का जो गान किया है वह निश्छल विश्वास और आत्मा की अपूर्व आभा से दीप्तिमान है।

घनानन्द जैसे उन्मुक्त और प्रेम में पूर्णत: पगे कवि को कृष्ण-भक्ति की पतवार पकड़नी पड़ी थी। परन्तु बोधा ने वैसी कोई जरूरत महसूस नहीं की। रीति कवि एक ओर लौकिक प्रेम से विरत नहीं थे वरन् उसमें डूबे हुए थे तो दूसरी ओर वे राधा-कृष्ण की भक्ति से भी अपने को जुड़ा रखना चाहते थे। भक्ति काल की अजस्र प्रवाहिनी भक्ति धारा से एक दम बच पा सकना भी भला कैसे सम्भव था। भक्ति भाव के ये संस्कार इन कवियों में कमोवेश धर्मभीरुता के रूप में भी इनके पीछे लगे थे जिनसे घनानन्द जैसे धीर और धाकड़ कवि भी मुक्त नहीं हो पाये थे। इस दृष्टि से बोधा सबसे अधिक मुक्त कवि साबित होते हैं। अपने प्रेम में मस्त संसार से बेपरवाह बोधा सही अर्थों में स्वच्छन्द हैं—अपने ही प्रेम के छन्द में आबद्ध। व्यक्तिनिष्ठता (इंडीविजुअलिज्म) की जैसी गहरी और व्यापक अभिव्यक्ति बोधा में मिलती है वैसी किसी और में नहीं। जे. एस. शिप्ले ने रोमान्टिक अभिव्यक्ति में भावात्मक तन्मयता और अनुभूत्यात्मक चेतना की प्रधानता को अनिवार्य ठहराया है। बोधा के काव्य में भावात्मक तन्मयता की गहराई भी मिलती है और अनुभूत्यात्मक चेतना से तो उनका सम्पूर्ण काव्य अनुप्राणित है।

बोधा को अपने प्रेम को प्रकट करने में किसी परदे की आवश्यकता नहीं होती। प्रेम तो उनका सर्वस्व है, प्रभु है, तब उसे प्रकट करने में कैसा परदा ? उनके काव्य का कथ्य केन्द्र प्रेम है और वह प्रेम उनकी प्रेयसी पर आधारित है। यही प्रेयसी उनके काव्य की प्रेरणा भी है, उसकी धुरी भी और उसका सम्पूर्ण कथ्य भी। इस प्रेम-बिन्दु में बोधा-काव्य का सम्पूर्ण सिंधु समाहित है।

रीतिकाल के पंड़ितों के उस युग में 'ढाई आखर प्रेम का' पढ़ने वाला यह बोधा (जो बेचारा प्रेम के कारण ही बुद्धिसेन से बोधा बन गया था) वाकई पंडित है अन्य तथाकथित कवि तो इसके सामने सचमुच बोधा (बुद्धू) मालूम पड़ते हैं। प्रेम का पाठ पढ़े हुए ये बोधा औरों को भी प्रेम का पाठ पढ़ाने में पटु प्रतीत होते हैं। इनका प्रेम शरीरी सुमान से होते हुए भी अन्य रीति कवियों के समान वायवी और शरीरी नहीं है। सम्पूर्ण कामनाओं की साकार सुभान को पाने की कामना के चित्रण में कहीं भी काम-क्रीड़ा का दर्शन नहीं होता। लोक और शास्त्र दोनों ही दृष्टियों से जो प्रेम औचित्य की परिधि में नहीं आ पाता, बोधा उसी प्रेम-पयोधि में अपने को पूर्णतः डुबाये रखने में परम प्रसन्नता की अनुभूति करते हैं।

प्रेम की एकांतिक उपासना बोधा के जीवन का साध्य और साधन दोनों हैं। इनके जीवन की सांस-सांस और हर स्पन्दन में प्रेम की मधुर टीस और आनन्ददायी वेदना है। अपने प्रिय को सर्वस्व समर्पित करने में ही इन्हें सर्वोच्च सुख की अनुभूति होती है। वे तो इसीलिए प्रेम पर लोक-परलोक दोनों ही न्यौछावर कर देते हैं—

लोक की लाज और सोच प्रलोक को वारिये प्रीति के ऊपर दोऊ।

प्रेम के सहारे ही वे संसार-सागर को भी पार कर लेने की सामर्थ्य रखते हैं—

कवि बोधा कछू सक यामैं नहीं भवसिन्धु बजाइ कै लै तरहै।
यह प्रीति की रीतिहि जानत सो परतीतहि मान कै जो करहै॥

बोधा ने प्रीति के तलवार की धार जैसे तेज पंथ पर चलने की न केवल तेजस्विता दिखाई है, वरन् प्रेम में विषपान की शिव जैसी धीरता प्रदर्शित की है और प्रेम-नेम का निभाव करने में अपना शीश तक चढ़ाने की वीरता भी दिखाई है।

बोधा के प्रेम-वर्णन की कुछ विशेषताएं स्वतः ही उन्हें विशिष्ट बना देती हैं। पहली बात तो यह है कि बोधा सीधे और सपाट बिना कपट के अपनी प्रीति-बखानते हैं। कहीं किसी राधा-कृष्ण की प्रेम-कथा की आड़ की उन्हें आवश्यकता नहीं होती। जैसे कि रसखान, आलम या घनानन्द में कहीं-कहीं लक्षित हो जाती है। या फिर बिहारी, देव आदि कवियों में उसका अगोपन स्वरूप दीख पड़ता है। इससे बोधा का कथ्य जहाँ बिना लाग लपेट का होने से सुबोध बन पड़ा है वहाँ उसमें सहजता-स्वाभाविकता का संगम भी हुआ है।

दूसरी विशेषता जो सहज ही ध्यान आकृष्ट करती है वह है उनका मात्र प्रीति-पंथ का पथिक होना। अपने सभी ग्रन्थों में बोधा ने प्रीति की गाथा या व्यथा को अपनी वाणी का विषय बनाया है। 'इश्कनामा' हो या 'विरह वारीश' या फिर 'माधवानल काम कंदला' हो—इन सभी काव्य-ग्रन्थों में सर्वत्र उनका सर्वत्र प्रतिपाद्य प्रेम या प्रीति ही है।

तीसरी विशेषता यह है कि बोधा प्रीति-रीति बखारने में किसी मत या सिद्धान्त का सहारा नहीं स्वीकार करते। जो कुछ उनका मन महसूसता है और जैसा उन्हें प्रिय लगता है वह बिना किसी झिझक के और बिना बनाव-सिंगार के कह देने में उन्हें सुख मिलता है। बोधा की वाणी से बोधा की प्रीति-प्रत्यक्षीकृत होती है और उनकी वह प्रीति उनकी निजी निधि है। उसमें किसी का दखल नहीं। यही कारण है कि उनकी प्रीति पर किसी भक्ति मत का झीना या मोटा परदा नहीं चढ़ा हुआ है। प्रेम की ऐसी प्रत्यक्ष अनुभूति का बोध कराने वाला बोधा जैसा कवि कोई और नहीं दीख पड़ता।

शिल्प-विधान

बोधा प्रेम के सहज कवि थे अतः उनके काव्य में अभिव्यक्ति-कला का वैसा कौशल कम ही दीख पड़ेगा जो अधिकांश रीति कवियों में अनायास दीख पड़ता है। भाषा में सहजता-स्वाभाविकता के साथ स्वच्छता और सुष्ठता साहित्यसौन्दर्य में अभिवृद्धि करती है। अलंकारों के प्रयोग की ओर उसकी रुझान नहीं है तो भी जहाँ भी अलंकार आये हैं अनायास और अकृत्रिम रूप से। घनानन्द में भी अनेक स्थलों पर कवि अलंकारों के प्रयोग की ओर जानबूझकर सचेष्ट दिखाई देता है और ठाकुर में भी यह प्रवृत्ति यदाकदा दृष्टिगत हो जाती है किन्तु बोधा में यह बात

कहीं लक्षित नहीं होती। रीतियुग में जन्मे कवि में अलंकारों के प्रति ऐसी अनासक्ति सचमुच अचरज का विषय है।

यद्यपि बोधा में ब्रजभाषा की लुनाई और माधुर्य के दर्शन पद-पद पर होते हैं किन्तु उन्होंने अरबी-फारसी और उर्दू के शब्दों का भी प्रयोग धड़ल्ले से किया है। आचार्य शुक्ल को उनके शब्दों में कहीं-कहीं पाया जाने वाला बाजारूपन खटका है। उन्होंने लिखा है—"नेजे, कटारी, कुरबान वाली बाजारी ढंग की रचना भी इन्होंने कहीं-कहीं की है।" फिर भी शुक्लजी ने इनकी भाषा 'चलती और मुहावरेदार होती थी' कहकर प्रशंसा भी की है। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने बोधा की भाषा पर अपनी सम्मति देते हुए लिखा है—"भाषा इनकी चलती है। उसमें च्युत संस्कृतत्व दोष अवश्य पाया जाता है। पर वह बामुहावरा भी है। शब्दों के ठेठ रूप और बोलचाल के शब्दों का प्रयोग इनमें बराबर मिलता है। फारसी के ढंग की कुछ हल्की कविता भी इनमें मिलती है।" जो भी हो बोधा की भाषा माधुर्य और प्रसाद गुण से संपृक्त होने के कारण पाठकों को विशेष मोहक लगती है।

डॉ० मनोहरलाल गौड़ ने बोधा की भाषा की प्रशंसा करते हुए अपने शोध प्रबन्ध में लिखा है—"भाषा की स्वाभाविकता स्वच्छन्दमार्गी सभी कवियों की अपेक्षा बोधा में अधिक विद्यमान है। ठाकुर ने लोकोक्तियों द्वारा, घनानन्द ने लक्षणाओं के बल से तथा आलम ने अलंकारों के प्रयोग से चमत्कार का आश्रयण किया है। केवल बोधा ही ऐसे हैं जो भाषा के स्वाभाविक रूप को लेकर चले हैं। उर्दू, फारसी की शब्दावली अवश्य कहीं-कहीं प्रयुक्त हुई है पर उससे अभिव्यक्ति की कृत्रिमता का कोई सम्बन्ध नहीं। वह सरल-सहज ही हैं—

मनमोहन एसो मिलावत हैं जो फंदेतो करंग फंदैती करै।
तब लौ छल जानी न जात कछू जबलौं अधमी वह मारि धरै॥
कवि बोधा छुटे सब स्वाद सबै बिन काजहू नाहक जीव जरै।
विषखाइ मरै कि गिरे गिरि ते दगादार ते यारी कभी न करै॥

बताया जा चुका है कि बोधा को अलंकृति में अधिक आस्था नहीं है। इसलिए उनके काव्य में अलंकारों का प्रयोग कम से कम हुआ है। उनके काव्य की शोभा तो उनकी सहज स्नेह-वृत्ति के प्रकाशन में है अतः सर्वथा सहज रूप में कहीं-कहीं अलकारों का प्रयोग भी हो गया है, अन्यथा तो उनकी शैली निरलंकार है। रीति-स्वच्छन्द कवि होने पर भी घनानन्द की कविता में अनेक स्थलों पर अलंकारों की अच्छी-खासी स्थिति दीख पड़ती है।

'भाल में रोरी की बेंदी लसी है, ससी में लसी मनो बीरबहूटी।' जैसी उक्तियों में उनकी मौलिक उपमान विधायिका क्षमता को देखा जा सकता है। अलंकार प्रयोग का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

पक्षिन को बिरछो हैं घने बिरछान को पक्षियों हैं बड़े चाहक ।
मोरन को हैं पहार घने औ पहारन मोर रहैं मिलि नाहक ।
बोधा महीपन को मुकुता औ घने मुकुतानि के होंहि बेसाहक ।
जो धनु है तो गुनी बहुतै अरु जो गुन है तो अनेक हैं गाहक ।।

इसीलिए आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने लिखा है—"बोधा थोथा चमत्कार उत्पन्न करने वाले अलंकारों से दूर हैं। ये प्रेम की प्रदर्शनी के दर्शक नहीं उसकी वनस्थली में घूमने वाले चक्रवाक हैं—रात के चक्रवाक ।"

बोधा का छन्द-विधान सर्वथा निर्दोष और भाव-सम्प्रेषण में सहायक है। वैसे उन्होंने सवैया छन्द के प्रयोग में सर्वाधिक रुचि दिखाई है तथापि उनके काव्य में दोहा, सोरठा, चौपाई, वरवै और कवित्त छन्दो का प्रयोग भी सफलतापूर्वक हुआ है । बोधा का छन्द वैभव उनके काव्योत्कर्ष का सबल आधार है ।

बोधा की नेह-निधि निष्कपट रूप से उसकी कविता में निसृत हुई है । बोधा घनानन्द से अधिक सरल, ठाकुर से अधिक सरस और किसी भी रीति-स्वच्छन्द कवि से अधिक सहजता सिद्ध कवि हैं। बिना किसी लाग-लपेट के भी उनका काव्य लालित्य और लावण्य में कुछ कम नहीं है। यह ठीक है, उनके काव्य में घनानन्द जैसी गहराई, रसखान जैसी मधुराई, ठाकुर जैसी सफाई नहीं मिलती पर स्नेह की जैसी सहज और स्पष्ट अभिव्यक्ति उनमें है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है । बोधा अपने में विशिष्ट हैं । कोई भी कवि उन जैसा नहीं है और न ही उनके काव्य में किसी के अनुसरण का कोई स्पर्श है । स्वानुभूति के सहज और सफल प्रकाशन में बोधा बहुत सफल हुए हैं। सम्पूर्ण काव्य में अपनी प्रेमानुभूति की इतनी अबाध-अनावृत्त अभिव्यक्ति अन्य कवि में नहीं मिलेगी ।

बख्शी हंसराज

रीतियुग की बँधी-बँधायी परम्परा में राज्याश्रय पाकर भी हंसराज कवि ने जिस उमंग से प्रेमाभक्ति पूर्ण काव्य-रचना की वह सुखद विस्मय की बात है। बुन्देलखण्ड के पन्ना राज्य में बख्शी हंसराज ने अपना साहित्य-सृजन किया था। कायस्थ कुल में जन्में हंसराज मुरलीधर के पुत्र थे। इनके पितामह माधवदास जी ओरछा के निवासी थे। इनके बड़े भाई हिम्मतराय जी को पन्ना नरेश महाराज छत्रसाल के पुत्र हृदयशाह ने अपने दरबार में स्थान दिया और राव की उपाधि से विभूषित किया। इन्हीं हृदयशाह ने हंसराज की योग्यता को बूझकर इन्हें अपने राज्य का बख्शी बनाया। बख्शी का पद बड़े महत्व का और दायित्व से पूर्ण होता था जिसका काम राज्य की आय-व्यय का ब्यौरा तैयार करना तथा अन्य विभागों के आय-व्यय के ब्यौरे की जाँच करना था। हृदयशाह का इन पर इतना विश्वास था कि उन्होंने राजगढ़ में स्थित राजमहलों का सम्पूर्ण दायित्व इन्हीं को सौंप दिया था। हृदयशाह के बाद उनके पुत्र सभासिंह भी इन पर बड़ा भरोसा रखते थे।

सम्वत् सत्रह सौ के उत्तरार्द्ध में जन्मे हंसराज कवि ने राज्याश्रय पाकर भी अन्य रीति-कवियों के समान विलास-कविता के सृजन में रुचि नहीं दिखाई। राज्य-कार्य में अत्यन्त व्यस्त रहने पर भी उन्होंने सरस काव्य रचना में समय लगाया। हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में बख्शी हंसराज के नाम से निम्न ग्रन्थ बताये जाते हैं—

सनेह सागर, श्रीकृष्ण जू की पाती, फाग तरंगिनी, चुरिहारिन लीला तथा जुगल स्वरूप और विरह विलास। इसके अतिरिक्त 'मिहराज चरित' काव्य का उल्लेख भी मिलता है। इन सबमें प्रसिद्ध और सरस ग्रन्थ तो 'सनेह सागर' ही है। 'मिहराज चरित' में कवि के अध्यात्म गुरु के चरित्र का वर्णन है और 'विरह विलास' में गोपियों तथा राधा और यशोदा के विरह का मार्मिक चित्रण हुआ है।

बख्शी जी को प्रणामी सम्प्रदाय का अनुयायी माना जाता है। प्रणामी सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण को प्रेमावतार और उनकी लीलाओं के स्मरण को सबसे बड़ा आनन्द माना गया है। बख्शी जी के 'सनेह सागर' काव्य में तथा अन्यत्र भी प्रणामी सम्प्रदाय का प्रभाव पर्याप्त परिमाण में परिलक्षित होता है।

प्रणामी सम्प्रदाय और 'सनेह सागर'—बख्शी हंसराज चूँकि प्रणामी सम्प्रदाय में दीक्षित थे और उनके 'सनेह सागर' में प्रणामी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का प्रकाशन

भी हुआ है अत. इस भक्ति सम्प्रदाय का परिचय पाना आवश्यक है। इस सम्प्रदाय के मूल प्रवर्त्तक गुरुदेवचन्द जी बताये जाते हैं जिन्होंने तारतम्य ज्ञान को प्राप्त करने के बाद अनेक स्थलों पर भ्रमण किया। बुन्देलखण्ड में जब वे पधारे तो उनके भक्ति सिद्धान्तों को प्रणामी सम्प्रदाय, निजानन्दी, प्राणनाथी आदि नाम दिया जाने लगा। वैसे उस सम्प्रदाय के और भी नाम प्रचलित हैं, यथा—धामी सम्प्रदाय, खिजड़ा पंथ, मेहराजपंथ, परनामी सम्प्रदाय, परिणामी सम्प्रदाय, प्राणनाथी सम्प्रदाय आदि। इस सम्प्रदाय के मुख्य केन्द्र पद्मावती (पन्ना में), नोतनपुरी (जामनगर, गुजरात में), और मंगलपुरी (सूरत में) स्थित हैं।

इस सम्प्रदाय के मूल प्रवर्त्तक गुरुदेवचन्द्र जी महाराज का जन्म प्रणामी सम्प्रदाय की मान्यतानुसार ब्रह्मधाम में हुआ था! साम्प्रदायिक मान्यता इस प्रकार है—ब्रह्म शक्तियों में परस्पर प्रेम संवाद हुआ जिसके परिणामस्वरूप उनकी आन्तरिक शक्तियों ने शरीर धारण किए और तभी से वे ब्रह्मशक्तियों के रूप में प्रसिद्ध हो गयीं। भौतिक जगत में आने के कारण माया के वशीभूत होने से वे अपना मूल स्वरूप तथा ब्रह्मधाम दोनों भूल गईं। अत: यह आवश्यक हो गया था कि उन ब्रह्म-शक्तियों को जागृत किया जाये। सदा की भाँति शिवजी से इस जटिल प्रश्न को सुलझाने का आग्रह किया गया। उन्होंने ब्रह्मपुर की वासनामयी शशि का जगत में अवतार निरूपित करते हुए यह बताया कि उन शक्तियों के समूह में से एक का जन्म मारवाड़ देश के उमरकोटि नामक गाँव में हुआ है। यह परम तेज स्वरूप सुन्दरी नामक परमात्मा की अत्यन्त प्रिय शक्ति थी जिसने पवित्र कुल में पुरुष रूप धारण करने का संकेत किया था। यह शक्ति जन्म-मरण के आवागमन को मिटाने वाली थी इसका नाम देवचन्द्र रखा गया था। प्रणामी सम्प्रदाय के भक्त प्राणनाथ जी ने इस सन्दर्भ में कहा है—

रास खेलते उमेदा रहिया तित, सो ब्रह्म सृष्टि सब आईयाईत।
यामे सुरत श्री श्यामा जी की सार, मत्तू मेहता घर अवतार॥

स्पष्ट है कि गुरुदेवचन्द्र के पिता का नाम मत्तू मेहता था। माता का नाम कुँवर बाई था। वे जाति के कायस्थ थे तथा ईश्वर की प्रिय शक्ति चन्द्र ने ही शरीरा-वतार धारण किया था। सात वर्ष की ही अवस्था में वे ब्रह्मज्ञान की स्थिति में विच-रण करने लगे थे। अनेक साधू सन्तों से उन्होंने समागम किया परन्तु इतने पर भी उन्हें सन्तोष न था। अन्तत: सम्प्रदाय के व्यक्ति हरिदास जी ने इनको गुरुपद दिया। वे कृष्ण की उपासना प्रेम पूर्ण रूप से करने लगे। चौदह वर्ष तक घर त्याग कर उन्होंने श्रीमद्भागवत का निष्ठापूर्वक मनन किया।

गंगाजी भाई उनके प्रथम शिष्य हुए। गंगा जी के कारण ही प्राणनाथ उनके संसर्ग में आये थे तथा उनकी सेवा करते-करते उन्होंने तारतम्य मन्त्र पाया था। शुक्ल १४ भाद्रपद बुधवार के दिन उनकी मृत्यु हो गई। इसके बाद प्राणनाथ उनके

प्रमुख प्रचारक बने। मूल संस्थापक गुरुदेवचन्द्र जी की मृत्यु के पहले प्रणामी सम्प्रदाय के सिद्धान्त स्थिर नहीं हुये थे; परन्तु कुछ अनुयायी अवश्य बन गये थे। पहले इस सम्प्रदाय का यत्किंचित प्रचार खम्भालिया, ध्रोल तथा जामनगर के आसपास के गाँवों एवं मूजनगर (कच्छ) में रहा हुआ उस समय नौतनपुरी ही एकमात्र केन्द्र था। प्राणनाथ ने इस सम्प्रदाय के प्रसार में बहुमूल्य योग दिया था। सर्व धर्म सम्मेलन के सहारे भारतीय धर्म सम्प्रदायों के अन्तर्गत श्रेष्ठ स्थान मिलने का कारण प्राणनाथ जी का सतत परिश्रम ही था। दिल्ली निवास तक उनके अनेक अनुयायी बन गये थे। इसके बाद वे बुन्देलखण्ड की ओर अग्रसर हुए। वहाँ जाने पर वे बुन्देल वीर छत्रसाल द्वारा गुरु मान लिये गए। इससे उनकी प्रतिष्ठा और भी बढ़ गई। प्रो० मातावदल ने इनकी प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में लिखा है कि राष्ट्रीयता के प्रतीक छत्रसाल के वे गुरु ही नहीं, सहायक भी थे। उस समय तक इनके प्रमुख शिष्यों में लालजी दास, केसौदास, मुकुन्ददास अर्थात् नवरंग स्वामी और छत्रसाल थे। छत्रसाल पवाया (पद्मावती पुरी) के राजा थे अतः जामनगर के बाद एक महत्वपूर्ण केन्द्र पन्ना में बनाया।

प्राणनाथ की प्रेरणा से ही बख्शी हंसराज प्रणामी सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे। प्राणनाथ का व्यक्तित्व विलक्षण था। डॉ० गोवर्धन तथा माता बदल जायसवाल के अनुसार—"भारतीय इतिहास के मध्यकाल में श्रीप्राणनाथ एक ऐसे महात्मा थे, जिन्होंने तत्कालीन धर्म सुधारकों तथा कबीर, नानक, दादू आदि की भाँति राम-रहीम एकता का कथन करके हिन्दू मुसलमानों के पारस्परिक द्वेष को शान्त करने का सन्देश ही नहीं, बल्कि हिन्दुओं के धर्मग्रन्थ वेद, उपनिषद, गीत, भागवत्, मुसलमानों के धर्मग्रन्थ कुरान, ईसाइयों की इंजील, यहूदियों के बबूर तथा दाऊद पैगम्बर के अनुयायियों के धर्मग्रन्थ 'तौरेत' में मौलिक एकता खोजने का प्रयत्न किया।"

प्रणामी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की संक्षिप्त चर्चा समीचीन होगी। भट्टाचार्य कृत 'निगमार्थ प्रदीप' के अनुसार ब्रह्म के तीन रूप माने गये हैं—क्षर, अक्षर और अक्षरातीत। क्षर को नश्वर और अक्षर को नित्य अविनाशी तथा अक्षरातीत को परस्पर नित्य, अखण्ड, उत्तम पुरुष माना है। इसे पहचान लेने से परम धाम की प्राप्ति होती है। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने अपने ग्रन्थ 'उत्तर भारत की संत परम्परा' में लिखा है कि ईश्वर के प्रति "शुद्ध प्रेम की वास्तविक अनुभूति ही पुरुषार्थ की चरमावस्था है जिसे उपलब्ध करने की साधना सबके लिए कर्त्तव्य है। परमात्मा का नाम इसी कारण इन्होंने धाम अर्थात् परम पद या सर्वोच्च आध्यात्मिक दशा ही रखा, जिसके आधार पर इनका पंथ 'धामी' कहलाया।" प्रणामी सम्प्रदाय में क्षर तथा अक्षर से परे अक्षरातीत ब्रह्म स्वरूप को प्रणामी सम्प्रदाय में उपास्य माना गया है। अति उज्ज्वल एवं अति उत्तम निजधाम में रहने वाले परम प्रकाशक, 'शुभ्र और शुद्ध सच्चिदानन्द अक्षरातीत ब्रह्म की ब्रह्म सृष्टियाँ पहचानते हैं। स्वयं प्रकाश वाले अपनी इच्छानुसार लीला करने वाले तथा प्राणिमात्र के कारण भूत अक्षरातीत

परमात्मा को जो विद्वान जब जान लेता है तब वह लौकिक सुख दुखों को त्यागकर परम शांति प्राप्त कर सच्चिदानन्द हो पाता है। ब्रह्म को प्राप्त करने का एकमात्र मार्ग प्रेम की साधना का ही है। यह प्रेम तत्व सभी धर्मों में पाया जाता है।

बख्शी हंसराज ने अपने आराध्य के रूप में स्वामी श्रीप्राणनाथ का सश्रद्ध स्मरण किया है। प्राणनाथ जी का ही दूसरा नाम मिहराज था। बख्शी जी ने उन्हीं के चरित्र पर 'मिहराज चरित्र' की रचना की है। प्राणनाथ के प्रति अपने श्रद्धा भाव को कवि ने अपने ग्रन्थ के प्रत्येक सर्ग के प्रारम्भ में इस प्रकार व्यक्त किया है—

श्री प्राणनाथ सद्गुरु परम, विनय करि परिनाम।
उबरहि विकट कपाट उर, सुमरित जिनके नाम॥

स्वामी प्राणनाथ तथा प्रणामी सम्प्रदाय में कृष्ण को नित्य एवं दिव्य ब्रह्म धाम की वास्तव लीला के ब्रह्मानंद को निरूपित किया गया है। बख्शी हंसराज को इस सम्प्रदाय में विशिष्ट स्थान प्राप्त है। इस सम्प्रदाय के प्रमुख पाँच कवियों में इनकी गणना होती है। इस सम्प्रदाय के मूल सिद्धान्तानुसार बख्शी जी ने अपने 'सनेह सागर' में श्रीकृष्ण को प्रेम-सिन्धु के रूप में चित्रित किया है। स्नेह के सिंधु होते हुए भी वे सम्पूर्ण सृष्टि के नियंता हैं और भक्तों को प्रसन्न करने के लिए नित्य लीला विहारी हैं। हंसराज जी ने 'सनेह सागर' में इसीलिये श्रीकृष्ण की सनेह लीलाओं का सजीव और ललित चित्रण किया है। डा० बलभद्र तिवारी के शब्दों में—"कृष्ण के जीवन की उच्चतम भावनाओं को भक्तों के निमित्त कवि ने लीला रूप देकर बुन्देलखण्डी व्यवहारों के साथ व्यक्त किया है। इसलिए यह ग्रन्थ प्रणामी सम्प्रदाय का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ तथा बख्शी हंसराज पन्ना केन्द्र के शीर्ष कवि, उपासक एवं आचार्य माने जाते हैं।"

'सनेह सागर'—'सनेह सागर' बख्शी हंसराज की प्रमुख काव्य कृति है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'इतिहास' में लिखा है—"सनेह सागर नौ तरंगों में समाप्त हुआ है जिनमें कृष्ण की विविध लीलाएँ सार छन्द में वर्णन की गई हैं।" डा० भागीरथ मिश्र के अनुसार—"यह तथ्य तो निर्विवाद है कि काव्य-सौष्ठव और रस-व्यंजना की दृष्टि से बख्शी हंसराज का सनेह सागर सर्वोत्कृष्ट एवं ललित काव्य है भाषा का सहज स्वरूप, छन्द का सरस प्रवाह, भाव का सहज स्फुरण, कल्पना की मनोहारी रूप-सर्जना और कृष्ण के जीवन की मधुर लीलाओं की विशद व्यंजना इस काव्य को विलक्षण माधुर्य प्रदान करते हैं।

सचमुच 'सनेह सागर' बख्शी जी की सरस और सुबोध काव्य रचना है—जो एकादश तरंगों में (अन्तिम दो तरंगों को परिशिष्ट में भी रख दिया जाता है और इस प्रकार कुल नौ तरंग भी मानी जा सकती हैं) पूर्ण हुआ है। सम्पूर्ण काव्य में स्नेह के साकार श्रीकृष्ण से सम्बन्धित स्नेह लीलाओं का ही सरस चित्रण हुआ है।

प्रथम तरंग में कवि ने सर्वप्रथम गुरु पद वंदना, फिर सरस्वती, शिव और

गणपति के स्मरण में मंगलाचरण प्रस्तुत किया है। पुनः विजय सखी नामक गुरु के प्रति वंदना के स्वर इस प्रकार मुखरित किये हैं—

व्यास बंस अवतंस गुसाईं, विजै सखी गुरु मेरे।
मन वच कर्मन कर हम, उनके चरन कमल के चेरे॥

तदोपरान्त कवि ने स्नेहाधार श्रीकृष्ण और उनकी अभिन्न सखी राधा तथा उनके लीलाधाम ब्रज का वर्णन किया है। ब्रजवासी गोपिकाओं और गोपों के वर्णन में कवि का कहना है कि गोप-गोपिकाएँ साधारण व्यक्ति मात्र न होकर अखण्ड वैभव का उपभोग करने वाले हैं और कृष्ण हितार्थ ही वे अहीर कुल में जन्मे हैं। इसके बाद कवि ने बाबा नन्द के द्वारा शुभ मुहुर्त में कृष्ण को उचित विधि-विधान से गो चारण की शिक्षा दी जाती है। कृष्ण बड़े चाव-भाद से अपने सखाओं सहित वन में नित्य गायें चराने जाते हैं। जब वे पहली बार गो चरण के लिए जाते हैं तो सभी ब्रजवासी उन्हें विदा करने आते हैं।

बख्शी जी के इस काव्य-ग्रन्थ के द्वितीय तरंग में राधा की प्रिय सखी ललिता के कृष्णानुराग का और फिर कृष्ण के प्रति राधा के असीम अनुराग का चित्रण हुआ है। ललिता कृष्ण पर अनुरक्त हो जाती है और कृष्ण भी उसकी रूप-माधुरी से मोहित होकर उसके प्रति अपने प्रेम का परिचय देते हैं। ललिता बरसाने जाकर राधा से कृष्ण की रूप-माधुरी की मुग्ध हो चर्चा करती है। राधिका कृष्ण के सौन्दर्य का श्रवण करके उनके प्रति अनुरक्त हो जाती है। इसी समय सुदामा किसी कार्य से बरसाने जाते हैं और झरोखे में खड़ी राधा को देखकर उसे कृष्ण के उपयुक्त विचारते हैं। फिर सुदामा के माध्यम से कृष्ण को राधा के रूप का श्रवण-दर्शन होता है। सुदामा के राधा गुणगान करने पर कृष्ण भी राधा के दर्शनार्थ व्याकुल हो उठते हैं। एक दिन राधा अपनी सखियों सहित फूल महल में चन्द्रिका से रंजित रजनी में आती है। निद्रामग्न होने पर स्वप्न में कृष्ण का दर्शन करती है और बड़बड़ाने लगती है। प्रगट में परिचारिकाएँ उसे किसी रोग से ग्रस्त समझती हैं, उसे जगा देती हैं। परिणामतः कृष्ण से स्वप्न में मिलन तो होता है परन्तु राधा अपने मन की बात नहीं कह पाती हैं। उनके मन की व्याकुलता बढ़ जाती है। उसका उपचार सखियों द्वारा चित्रा सखी के बनाये चित्र द्वारा होता है। इधर कृष्ण भी स्वप्न में राधा का दर्शन करते हैं, उन्हें भी धैर्य नहीं रहता परिणामतः विचित्र नामक सखा वृषभानु कुँवरि का चित्र बनाकर लाता है जिससे कृष्ण को सांत्वना मिलती है।

तृतीय तरंग में दोनों के परस्पर प्रत्यक्ष दर्शन का चित्रण है। राधा अपनी गाय कृष्ण को चराने के लिए सौंपती हैं तथा पारिश्रमिक तय करती हैं तो, पारिश्रमिक के रूप में कृष्ण राधा का प्रेम माँगते हैं। वार्तालाप के बीच कृष्ण के हाथ में राधा अपनी अगूठी देखकर लोक मर्यादा का ध्यान दिलाकर उसे वापस माँगती हैं। कवि ने चोरी प्रसंग में दोनों को अपराधी ठहराया है। यह चोरी अंगूठी और छला की

चोरी न होकर हृदय का हरण करने वाली है। दोनों में व्यर्थ बढ़ते हुए बकवाद का चित्रण है। फिर, इसी बहाने से दोनों एक दूसरे का रूप पान करते हैं। लोक-मर्यादा ही दोनों को अपने दैनिक कार्य में प्रवृत करती है।

चतुर्थ तरंग में कृष्ण के दर्शनार्थ राधा दधि बेचने का कार्य करती है। घटोक्ति का प्रसंग भी यहाँ आता है जिसमें वह अपनी तपस्या का वर्णन करता है, तथा कृष्ण को उपदेश देता है कि अनमोल वस्तु को प्राप्ति के निमित्त ऐसा कार्य अनिवार्य है। तदनन्तर राधा कृष्ण में प्रेम हो जाता है। प्रेम-विवाह में कवि ने प्रतीकों का आश्रय लिया है और उसने बुन्देलखण्ड में प्रचलित सभी लोकाचारों, रीतियों का उल्लेख विस्तार से किया है।

पंचम तरंग में कृष्ण अपने मित्रों के साथ राधा की अनुमति पाकर फाग खेलने जाते हैं। होली के उन्मुक्त अवसर पर कितनी धमा चौकड़ी मचती है रंग में रंगे कृष्ण और आगे राधा के प्रीतिपूर्ण क्रिया कलापों का विस्तार से चित्रण हुआ है। इसी तरंग में आगे कृष्ण योगी का वेश बनाकर राधा के नगर में जाने का वर्णन है। ऐसे सुन्दर योगी को देखकर राधा अपने पास बुलाती हैं, कृष्ण से परिचय माँगा जाता है। उत्तर में कृष्ण स्वंय को अनादि ब्रह्म के रूप में बताते हैं। गीता में वर्णित ब्रह्म का विराट रूप यहाँ चित्रित किया गया है राधा की सखियाँ अति प्रवीण एव प्रखर बुद्धि वाली हैं अत: वे योगी के रूप में भी वह कृष्ण को पहचान लेती हैं। राधा कृष्ण तथा अन्य सखियों को इससे अत्यधिक आनन्द मिलता है। तत्पश्चात् कृष्ण शिथिल गति से गोकुल वापस आ जाते हैं।

षष्ठ तरंग में बैसाख का बुन्देलखण्ड में बहुप्रचलित प्रमुख त्यौहार अखतीज (अक्षय तृतीया) का वर्णन हुआ है। राधा अपनी सखियों के साथ पुतरियाँ सजाकर बट वृक्ष के नीचे पूजा करने जाती हैं। पूजन-स्थान में कृष्ण पहुँच जाते हैं। राधा-कृष्ण दोनों पुनः प्रेम-विह्वल हो जाते हैं। पुतली के माध्यम से भी दोनों अपने-अपने अनन्त प्रेम का प्रदर्शन करते हैं। अपने प्रिय का नाम प्रकट में लेने की विधि सबको माननी पड़ती है। राधा और कृष्ण टहनो की मार सहते रहते हैं। फिर भी देर तक प्रिय का नाम मुंह पर नहीं लाते। युवकोचित भावनाओं का वर्णन करके कवि ने श्रृंगार रस को विस्तार दिया है। कृष्ण श्रृंगार के अधिष्ठाता हैं इसका यहाँ सुन्दर प्रमाण मिलता है। कवि कृष्ण-लीला में श्रृगार-चित्रण बखूबी कर लेता है।

सप्तम तरंग में बट पूजन का वास्तविक कार्य होता है। सभी अपनी-अपनी अभिलाषा बट के सामने कहते हैं। इसी बीच में मिलन में बाधा प्रस्तुत करने वाले परिवार के सदस्यों की निष्ठुरता का वर्णन भी हुआ है। ज्यों-ज्यों बाधाएँ आती हैं दोनों ओर मिलन की अभिलाषा में तीवृता आती जाती है।

अष्टम तरंग में कृष्ण सखी का वेष धारण करके राधा से मिलने जाते हैं। सखी रूप में उनका नाम कृष्णा या स्यामा सखी रहता है। प्रारम्भ में सभी सखियाँ

अपनी नई सहेली का स्वागत करती हैं और राधा से मिलाती हैं परन्तु तरंग के अन्त तक कृष्ण मुँदरी के द्वारा पहचान लिये जाते हैं। पुनः लोक मर्यादा का प्रश्न सामने आता है। उनका स्वागत करके प्रेम भीनी बिदाई सब देती हैं।

नवम तरंग में राधा अपनी सखियों सहित सखा का वेश धारण करके कृष्ण को ठगने पहुँचती हैं। परन्तु राधा भी पहचान ली जाती है। दोनों के मिलन इस प्रकार सभी सखियों तथा गोपों को आनन्ददायी होते हैं।

परिशिष्ट में समाविष्ट दो तरगों में चुरेरिन लीला और चोबदार लीला बखशी हंसराजजी की अन्य प्रमुख तरंगें हैं। राधा कृष्ण प्रेम आनादि काल से है। उसको प्रदर्शित करने तथा अपने भक्तों को आनन्द देने के लिए वे समय-समय पर अलग-अलग रूप धारण करते हैं। इनके माध्यम से उस युग के राज्य, शासक और समाज के व्यवहारों का पता चलता है। नवम् तरंग के बाद हम चुरेरिन लीला को दशम् एवं चोबदार लीला को एकादश तरग के रूप में भी परिगणित कर सकते हैं। ये लीलाएँ अभी तक उपलब्ध नहीं थीं। हाल ही में मिली प्रति में जिस रूप में उपलब्ध हुई उन्हें परिशिष्ट में दिया गया है। दशम् तरंग में कथावस्तु की दृष्टि से चुरेरिन लीला में कृष्ण चूड़ियाँ पहनाने वाली का वेश धारण करके बरसाने जाते हैं। स्त्रियों को विशेषत कुंवारी लड़कियों को चूड़ियाँ पहिनने का बहुत शौक होता है। अतः वे कृष्ण को आमन्त्रण देती हैं। राधा को चूड़ियाँ पहनाते समय कृष्ण के हाथ की पुरुषता तो भेद खोल देती है। कृष्ण पुनः पकड़े जाते हैं फिर भी यह मिलन फिर एक बार सुखकारी बनता है।

एकादश तरंग में चोबदार वह व्यक्ति है जो कंस की ओर से नियुक्त है। पथिकों एवं दधि बेचने वाली नारियों को कृष्ण के उत्पातों से बचाता है। राधा चोबदार का वेश धारण कर कृष्ण को डाँट लगाती हैं, परन्तु रसीले कृष्ण अचानक सुन्दर चोबदार को पहिचान कर अपने हृदय के भाव व्यक्त कर देते है। इस प्रकार दोनों एक दूसरे को छलते हैं। यह छल दोनों के परस्पर प्रगाढ़ प्रेम का प्रमाण है जिसमें इन दोनों को ही नहीं वरन् सभी साथ रहने वालों को आनन्द आता है।

काव्य-सौष्ठव—कृष्ण की लीलाओं का यह सरस और विशद् वर्णन 'सनेह सागर' जैसे काव्यग्रन्थ के नाम की सार्थकता को प्रकट करता है। 'सनेह' की ऐसी सरस और सात्विक अभिव्यंजना अन्यत्र सरलता से उपलब्ध नहीं होती। रीतिकाल के रति-प्रसंगों की राहों में भटकते काव्य-माहौल में कवि हंसराज ने प्रीति-रीति का जो रागात्मक चित्रण किया है, वह सचमुच उन्हें विशिष्टता प्रदान करता है। कवि बखशी ने स्नेह की जैसी सुन्दर-सजीव परन्तु सहज व्यंजना 'सनेह सागर' में की है वह सचमुच श्लाघनीय है। भक्तों जैसी भावमयता उनमें पायी जाती है तो भी स्पष्टतः उन्हें भक्त कवि के रूप में सहज स्वीकारना सम्भव नहीं। कारण यही है कि इनमें कहीं भी सूरादि जैसे भक्त कवियों जैसा सर्वस्व समर्पण का भाव नहीं दीख पड़ता।

बख्शी हंसराज की 'सनेह सागर' रचना का काल रीतिकाल के उत्तरार्द्ध का समय है अतः इस काव्य ग्रन्थ में अलंकृति, पच्चीकारी और सिंगार-सज्जा के प्रति सजगता अनेक स्थलों पर लक्षित हो तो आश्चर्य नहीं होना चाहिये। यह अवश्य है कि 'सनेह सागर' में सहजता और सरसता प्रायः अक्षुण्ण बनी रही है। जहाँ घनानन्द-ठाकुर जैसे रीति स्वच्छन्द कवि कई स्थलों पर कवि-कौशल के दो-दो हाथ दिखाने से नहीं चूकते वहाँ बख्शीजी अलंकार-विधान के अत्यन्त सजग क्षणों में भी अपनी सहजता बनाये रखते हैं। यह ठीक है कि बख्शीजी भक्ति-सिन्धु में गहरे नहीं बैठ पाये हैं परन्तु यह भी सही है कि रीति-रागी कवि—घनानन्द, बोधा, द्विजदेव से भी अधिक बख्शीजी मे राधा-कृष्ण की सनेह-लीला के प्रति आकर्षण है। भक्त कवियों से कम लेकिन रीति-कवियों से कहीं अधिक इनका स्नेह-चित्रण भक्ति की मन्दाकिनी में स्नात दीख पड़ता है।

रीति कवियों मे से अनेक ने अपनी काव्य-कालिंदी में वासना के गदले नालों को बेहिचक गिरने दिया फलतः उसमें पंकिलता भी परिलक्षित होती है। कुछ रीति-स्वच्छन्द कवि ऐसे भी हुए जिनकी काव्य कालिन्दी के फूलों पर कृष्ण की मधुर तानें भी सुनाई पड़ती हैं और राधा-कृष्ण की रमण की रुनझुन झकार भी परन्तु है वहाँ सब प्रीति में पगा हुआ। भक्ति जैसा सरस सात्विक होते हुए भी वह सब कुछ है उनके वैयक्तिक प्रेम की आतुर-कातर पुकार ही। परन्तु बख्शी के 'सनेह सागर' की सबसे बड़ी विशेषता स्नेह-भक्ति का गगा-जमुनी संगम है। उनके 'सनेह सागर' की कोई भी छोटी-बड़ी तरग या लहरी उनके वैयक्तिक प्रेम की आहट तक नहीं दे पाती। वे राधा-कृष्ण की सनेह-लीलाओं में ही आद्यत रमे रहे हैं अत. उनकी प्रेम-कालिंदी में भक्ति की मंदाकिनी का संगम भी दीख पड़ता है। वे भक्ति के प्रणामी सम्प्रदाय में दीक्षित भी बताये जाते हैं। इन सबसे उन्हें भक्त मानन को मन करता है किन्तु पारखी विवेक वैसा स्वीकार नहीं पाता। यदि कवि को मात्र भक्ति लीलाओं का चित्रण ही अभीष्ट होता तो वे अपने काव्य-ग्रन्थ का नामकरण 'सनेह' पर न कर भक्ति पर आधृत करते। भक्ति के आलम्बन होने पर भी राधा-कृष्ण को प्रायः सभी रीतिकवियों ने प्रेम के आलम्बन के रूप में अधिक स्थापित किया। रीति के उस परिवेश में साँस लेते हुए और राजसी वातावरण मे अपनी साहित्य-सामर्थ्य को सुविकसित करने की साध में उनके राधा कृष्ण के सनेह चित्रण में स्नेह की स्वतः स्फूर्ति प्रधानता हो गई है। 'सनेह सागर' में बार-बार 'प्रीति' शब्द का प्रयोग प्रीति के प्रति कवि की गहरी रुझान की पहचान भी दे देता है।

'सनेह सागर' की सनेह-लीलाओं के चित्रण में प्रीति का प्रत्यक्षीकरण अधिक है और भक्ति की उज्ज्वल छवियां उसमें कम ही उजागर हो पाई है। परन्तु यह भी सच है कि बख्शी ने जिस भक्ति सम्प्रदाय में दीक्षा ली थी उसमें राधा-कृष्ण के युगल स्वरूप की लीला गान को सर्वाधिक महत्व दिया है। अतः 'सनेह सागर' का

सनेह चित्रण भक्ति के सन्दर्भ में स्वीकारना होगा। निष्कर्ष की तेज धार पर फिर यह भी स्वीकारना होगा कि बखशी में भक्त कवियों जैसा अपने आराध्य के प्रति अगाध आस्था, युगल की लीलाओं में गहराई से डूबना या स्व का उसमें विगलन भी नहीं दीख पड़ता। राजसी वातावरण में रचे-बसे बखशी जी सूर आदि कवियों के समान सब कुछ अपने आराध्य पर न्योछावर करने वाले हो भी कैसे सकते थे?

कवि युगीन परिप्रेक्ष्य में यदि हम बखशी जी के प्रतिपाद्य का परीक्षण करें तो उनकी देन की दीप्ति स्पष्ट हो सकेगी। भक्तिकाल का उत्तरार्द्ध मुगलशासन का स्वर्णकाल भी था। मुगल बादशाह अकबर की समझदारी से भरी सौहार्द्रपूर्ण नीति से आश्वस्त होकर अधिसंख्यक हिन्दू जनता न तो टकराव की स्थिति में अपने को पा रही थी और न अब उसे इसका भय था कि म्लेच्छ उस धर्म को विनष्ट कर देंगे। इस सौहार्द्र की सुफल एक ओर स्वेच्छा से हिन्दू राजाओं का मुगल साम्राज्य के प्रति सहयोग में तो दूसरी ओर स्वयं अकबर, जहाँगीर आदि हिन्दू धर्म की आस्थाओं के प्रति झुकाव में दीख पड़ता है। सुरक्षा के इस विभिन्न भक्ति सम्प्रदायों को पनपने का मौका मिला। भक्तिकाल के उत्तरार्ध में साधना की विभिन्न पद्धतियों ने जनता को आकृष्ट किया था। सगुण तथा निर्गुण की दो सारणियों से निकल कर भक्ति को छोटे-छोटे दायरों में बाँध लेने की दिशा में कुछ विशेष प्रयत्न हुए। इससे एक ओर कुछ लाभ भी हुए। ईश्वर की उपासना में कठिन मार्गों का अवलम्ब न करके सरल मार्गों का अनुसरण प्रारम्भ हो गया। ईश्वर को नये-नये रूप में कल्पित किया जाने लगा फलतः नये सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ। ये सम्प्रदाय सगुण तथा निर्गुण दोनों उपासना के क्षेत्रों में विकास करते गये। दूसरी ओर ईश्वर को संकीर्ण वृत्तों में परिबद्ध करने की परिपाटी से कालान्तर में उस पर लोगों का विश्वास क्षीण होने लगा। सम्प्रदायों की अधिकता ने जनता को एक न करके विभाजन का कार्य अधिक किया। परिणामतः सम्प्रदायों के विभिन्न प्रवर्त्तकों में कभी एक मत होने की स्थिति नहीं आई।

इस विभाजनकारी प्रवृत्ति के विनाशकारी परिणाम भी हुए जिनमें सबसे अधिक विनाशकारी परिणाम यह हुआ कि जन-जन आध्यात्मिकता से हटकर भौतिकता की क्षुद्र परन्तु संकुल भावनाओं में आबद्ध होता चला गया। रीतिकाल में वह भक्त नाम मात्र को रह गया था उसमें 'नाम सुमिरन को बहानो' ही अधिक हो गया। उस समय आवश्यकता इस बात की थी कि तत्कालीन परिवेश के अनुकूल जनता को आकृष्ट करके ईश्वरोपासना में संलग्न किया जाये। यह कार्य कतिपय दरबारी कवियों ने किया भी। बखशी हंसराज ने प्रणामी सम्प्रदाय में दीक्षित होकर राधा कृष्ण की लीलाओं के माध्यम से मरणासन्न आध्यात्मिक भावना को नवीन चेतना प्रदान करने का कार्य किया। प्रणामी सम्प्रदाय में प्रेमतत्व का विशेष महत्त्व है। हंसराज जी ने इसी को अपने काव्य का आधार बनाया।

'सनेह सागर' में रस की दृष्टि से शृंगार का बहुविध सजीव चित्रण हुआ है। शृंगार के मूल 'रति' भाव से सम्बन्धित होने के कारण ही भक्ति और वात्सल्य भी उसी में अन्तर्भूत कर दिये गये हैं। बख्शी हंसराज ने अपने इस काव्य में दाम्पत्य शृंगार के अतिरिक्त वात्सल्य और भक्ति की सरस-सजीव स्थितियों का चित्रण भी तन्मयता से किया है। रति या प्रेम के आधार यहाँ कृष्ण हैं जो सुन्दरता में अपनी समता नहीं रखते। एक ओर वे बाबा नन्द और माता यशोदा के वात्सल्य भाव के आधार हैं तो दूसरी ओर राधा तथा ललितादिक सखियों के प्रेम (रति) के आलम्बन हैं और वे ही अपनी सनेह लीलाओं के कारण भक्तों की भक्ति का अवलम्ब भी बन जाते हैं—

जसुमति नन्द जगत में जिनकी कीरति सरद जुन्हाई।
तिरकै आहि परम पुनन तें प्रगटे कुँवर कन्हाई।
कोटि काम अभिराम स्याम वपु सुन्दरता के सागर।
सरद कमल लोचन दुख मोचन रसकराइ नट नागर॥

कहा गया है कि प्रेम मानव जीवन का मधु है और यह मधु सुन्दरता के सुमन से उपलब्ध होता है। इसीलिए प्रेम के चितेरे सभी कवियों ने अपनी तूलिका से सौन्दर्य के भी बड़े सजीव और आकर्षक चित्र अंकित किये हैं। 'सनेह सागर' में सौन्दर्य को उकेरने वाले अनेक चित्र हैं—

दमकत दिवति देह दामिनी सी चमकत चंचल नैना।
घूँघट बिच खेलत खंजन से उड़ि-उड़ि दीठि लगैना॥
लटकट ललित पीठ पर चोटी बिच-बिच सुमन सँवारी।
देखै ताहि मैरु सो आवत मनो भुजगम कारी॥

जब प्रेम का मूल सौन्दर्य है तो सौन्दर्य के सिंधु ब्रजराज कृष्ण इसीलिए सभी के प्रेमाकर्षण के केन्द्र बन जाते हैं। कृष्ण की सुन्दरता स्वतः ही प्रेम उत्पन्न कर देती है। यहाँ प्रेम और भक्ति में अन्तर नहीं रह जाता। बख्शी जी के 'सनेह सागर' में प्रेमाकर्षण भाव की ऐसी ही छबियाँ प्रस्तुत हुई हैं—

खोर खरक मै सहजहि निकसी मोर खोर कहु नाहीं।
खोर लगाई खोर मै रोकी झटक मरोरी बाहीं॥
कहा करौ कित जाउँ सखी री निरख रूप मन लोभा।
नैन बान लग हियौ बिदारत दैउ कहाँ लगि टोभा॥

भक्ति का स्थायी भाव शृंगार रस के समान ही रति है और कृष्ण विषयक भक्ति में दाम्पत्य शृंगार तो इतना घुल-मिल गया है कि दोनों की विभाजक रेखा को देखना सरल नहीं है। शृंगार का वर्ण श्याम माना गया है अतः स्वयं श्याम वर्ण के होने के नाते कृष्ण का प्रेममय होना स्वाभाविक ही है। 'सनेह सागर' के कृष्ण इसीलिए प्रेम-सिन्धु हैं जिन्हें देखकर प्रेम स्वतः उमड़ पड़ता है—

चलै जात चितवन मै चंचल चेटक सो कछु कीनौ ।
हाथ हि हाथ छिवा छबीलै हथा हथी मन लीनौ ॥
लै चित चोर गयौ सामलिया रहत कौन धौ ठौरी ।
डोलत फिरत ठगी सी निस दिन डगर डगर ज्यौं बौरी ॥

प्रेम के द्वारा प्रभु को पाया जा सकता है। भक्ति की चरम स्थिति में भक्त और भगवान में वैसे ही भिन्नता नहीं रहती जैसे सामान्य प्रेम के अन्तर्गत प्रेमी और प्रेमिका का पार्थक्य तिरोहित हो जाता है। सनेह सागर' इसी भाव स्थिति मे सृजित काव्य कृति है। जैसे पतंग संग डोर बँधी रहती है वैसे ही कृष्ण संग राधा का मन बँधा हुआ है—

बिन गुन की वह भौंह कमनियाँ खैंच कान नौ तानै ।
नैनबान सौ हियरा बेधत जाल न कटत दिखानै ॥
मेरौरी कान्हर मन मोहौ बात प्रेम रस रोरी ।
डगी फिरत हौं डगर डगर मैं चंग-डोर ज्यौं डोरी ॥

राधा की सुन्दरता से कृष्ण भी सहज ही आकृष्ट हो जाते हैं। सहज आकर्षण का यह भाव ही प्रेम का अंकुरित कर पल्लवित पुष्पित करता है। डॉ० बच्चन सिंह ने अपने शोध प्रबन्ध 'रीतिकालीन कवियों की प्रे व्यजना' में कहा है—"मनोवैज्ञानिक अर्थ मे भक्ति और प्रेम (रति) मे कोई मूलभूत अन्तर नहीं, भक्ति प्रेम का उदात्तीकरण है।" बख्शीजी का काव्य इसका उदाहरण है—

जो आवत कहू कुँवर लाड़ली अनामख निमख निहारौ ।
तौ विशेष अपनी अलकन सौ पलकन सौ मग झारौ ॥
कोहै कहा कौन की बेटी श्रवन सुनौ नहि नाऊँ ।
करत विचार आपनै मन मै किहि विधि देखन पाऊ ॥

प्रेम में जा दशा प्रेमी की होती है, उसका स्वाभाविक चित्रण 'सनेह सागर' में हुआ है। सहजता सिद्ध ये चित्र प्रेम भाव से उद्भूत प्रकृत स्थितियाँ है, उन पर भक्ति का आवरण भले ही ओढ़ाया जाये—

जा दिन सौ उन सौ अरु मोसौ सपन प्रीति उर बाढ़ी ।
ता दिन तै अँखियन कै आगै निसु दिन यह छबि ठाढ़ी ॥
कहा करौ कित जाऊ सखी री घर अंगना न सुहाई ।
जरै बरै वह लगन अनौखी विरह अगन उपजाई ॥

राधा कृष्ण की ये प्रेम-ठिठोलियाँ न केवल पति-पत्नी के प्रकृत प्रेम की झाकियाँ प्रस्तुत करती हैं अपितु प्रेमी-प्रेमिका की मनोरम क्रीड़ाओं की छवि भी रूपायित करती हैं—

कान्ह वचन सुन कुवर लाडली हँसकर भौंह मरोरी ।
साहू भए गोकुल में डोलत कर-कर पर घर चोरी ॥

'सनेह सागर' में राधा-कृष्ण के जिस प्रेम स्वरूप का कवि ने स्वरूप प्रस्तुत किया है वह हमारे भारतीय जन-जीवन का संस्कार है और वह हमारे दाम्पत्य प्रेम का आदर्श भी बन सकता है। यह प्रेम स्वरूप सहज-स्वच्छन्द होते हुए भी सात्विक और सामाजिक सीमा की परिधि में है। उन्मुक्त प्रेम की उमंग-उल्लास का चित्रण करते हुए भी बख्शी जी ने उसके उदात्त रूप को विस्मृत नहीं किया है—

प्रेम पीताम्बर प्रेम चुनरिया द्रिढ़ता गांठ जुराई।
कोटिन वार सुरनि अति आतुर भामर परत सुहाई॥

प्रेम सभी प्रकार के बन्धनों—भेदों से परे होता है। उन्मुक्तता की इस सम स्थिति में ही प्रभु-प्राप्ति सम्भव है—

जात पात सब ऊँच नीच कुल लोक वेद ब्यौहारा।
पानिग्रहन प्रेम कौ इहि विधि समुझत समझन हारा॥

गीता मे भगवान कृष्ण ने कहा है—'मेरे में बुद्धि समर्पित करने वालों की काम-वासनाएँ फिर कामोद्दीपन नहीं करतीं, जैसे भुने या उबले धान फिर बीज नहीं बनते।' श्री रूपगोस्वामी ने 'भक्ति रसामृत सिंधु' में साधना द्वारा होने वाले विकास की दृष्टि से भक्ति के तीन भेद माने हैं—(१) साधन रूपा, (२) भाव रूपा और (३) प्रेम रूपा। बख्शी हसराज ने 'सनेह सागर' में जिस प्रेम का निरूपण किया है वह प्रेमरूपा भक्ति में भी परिगणित किया जा सकता है। 'सनेह सागर' में प्रेम के जिस स्वरूप का चित्रण हुआ है वह भक्ति भावना से पृथक नहीं है। जैसे प्रयाग में गंगा-यमुना के सगम में किसी का पृथक अस्तित्व दृष्टिगोचर नहीं होता वैसे ही बख्शीजी के काव्य में प्रेम-भक्ति की स्थिति है। परन्तु जैसे प्रयाग के उस संगम में बाद में उसे मदाकिनी का नाम ही दिया गया है वैसे ही 'सनेह सागर' में प्रेम-कालिंदी में भक्ति की मदाकिनी मिल गई है। वैसे तो बख्शीजी ने सनेह को कृष्ण भक्ति में लीन करने का प्रयास किया है—

अपनी प्रकृति पसार पलक में सिगरो जगत भुलावे।
ढूंढ़-ढूंढ़ थाकै ब्रह्मादिक उनको पार न पावे॥
करी प्रणाम परस पग सिर सौं हिलमिल दोऊ भैया।
ग्वाल बाल लै चलै विपिन को अगेरै सब गैया॥

परन्तु सम्पूर्ण 'सनेह सागर' का पारायण करने के बाद सहज ही पाठक का मन स्नेहाभिव्यक्ति से सिद्ध हो जाता है। प्रेम-पताका ही वहाँ फहराती दीख पड़ती है। प्रतीत होता है कि कवि का प्रमुख प्रतिपाद्य प्रेम ही है जिसे उसने 'सनेह' नाम से सम्बोधित करना पसन्द किया है। साथ ही यह भी स्वीकारना होगा कि इस सनेह में उसकी भक्ति भी समाहित है। प्रणामी भक्ति सम्प्रदाय में दीक्षित होने से वह भक्ति को बिसार नहीं सकता था। भक्ति को बिसार पा सकना तो उस युग में घोर श्रृंगारी कवियों से भी सम्भव नहीं हो पाया था। राधा-कृष्ण के युगल लीलामय स्वरूप में उन्हें अपनी श्रृंगारी वृत्ति के दोष के साथ भक्ति को भी प्रच्छिन्न रूप से

तुष्टि मिल गई । बखशीजी घोर शृंगारी कवि नहीं थे और न ही उन्होंने कहीं सीधे लौकिक प्रेम के चित्रण की प्रवृत्ति ही दिखाई है तथापि प्रीति या प्रेम ही वहाँ प्र ुखतः परिलक्षित होता है । सच तो यह है कि बखशी हंसराज रीतियुग में जन्मते पर जैसे रीति-बन्धनों से आबद्ध नहीं वैसे ही अपने काव्य में भक्ति सिद्धान्तों से जकड़े दृष्टिगत नहीं होते ।

अभिव्यक्ति कौशल—बखशीजी यद्यपि रीतिकाल के उत्तरार्द्ध में हुए थे जब कविगण अभिव्यक्ति कला पर सबमे अधिक ध्यान देते थे । तथापि बखशीजी के काव्य में सर्वत्र सहजता और सरसता ही मिलती है । 'सनेह सागर' में शायद ही कोई ऐसा छन्द मिले जो भाषा की दृष्टि से क्लिष्ट या दुर्बोध हो या फिर अलंकारों से बोझिल हो । बखशीजी ने यथासम्भव सरल-सहज बुंदेली भाषा को अपने काव्य में व्यवहृत किया है । उनकी भाषा प्रांजल, सुष्ठ और प्रवाहयुक्त है । भाषा का लोक व्यावहारिक रूप के साथ उसका सहज-सुष्ठ रूप भी दर्शनीय है—

बोली कुवर लाडली तिहि छिन कर अँखिया तिर धौंही ।
सबै बोर ललितादिक सखियाँ बोल उठी एक मोही ।।

भाषा के प्रवाह के साथ उसकी प्रभविष्णुता और शब्द-झंकृति का उदाहरण भी दृष्टव्य है—

एक एक तैं अधिक छबीली हंस गमन मृगनैनी ।
छतिया छेदि करी है छतना तिरछी चितवन नैनी ।।
छुद्र घंटिका बिछिया घुँघुरु झनकत पाइन पाइल ।
श्रवनन सुन-सुन घूमि-घूमि कै गिरत घनेरे घाइल ।।

वर्ण मैत्री, सानुप्रासिकता के साथ ध्वन्यात्मकता के गुणों से समन्वित भाषा के उदाहरण भी उनमें बहुत स्थलों पर उपलब्ध हो जायेंगे—

हटकि हटकि पट झटकि झटकि कै मुरकावत बलवीरा ।
× × ×
कर कर ओट चोट लालन की घूँघट ओट बचाई ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बखशीजी की भाषा को बहुत ही मधुर, सरस और चलती हुई बताते हुए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में लिखा है—"भाषा का ऐसा स्निग्ध-सरल प्रवाह बहुत कम देखने में आता है । पद-विन्यास अत्यन्त कोमल और ललित है । कृत्रिमता का लेश नहीं । माधुर्य प्रधानतः संस्कृत की पदावली का नहीं, भाषा की सरल-सुबोध पदावली का है । शब्द का भी समावेश व्यर्थ केवल पादपूर्त्यर्थ नहीं है । सारांश यह कि इनकी भाषा सब प्रकार से आदर्श भाषा है ।"

जिस कवि की लोक जीवन में जितनी गहरी पैंठ होती है उसकी काव्य भाषा में मुहावरों और लोकोक्तियों का उतना ही अधिक और सफल प्रयोग मिलता है। बखशीजी लोक जीवन में पैठे हुए थे अतः उनकी बुन्देली मुहावरे और कहावतों का भण्डार मिलता है । ऐसा प्रतीत होता है कि इनके द्वारा कवि ने काव्य साधना का आधा मार्ग ही तय कर लिया है । निम्न मुहावरों और कहावतों से इसका प्रमाण

मिलता है—जाको वार न पारू, पाउँ न धारौ, रार न कीजौ, टरत न टारो, ललक ललक ललच्याई, ठाड़े कहा बिकाऊ से तुम, अकल विकल कर डारै, घाऊ सिरानौ, जान बूझि के जीकी, ज्यों पाथर में पानी, चाहत पकरन चन्दू, नैन में टेरै इत्यादि अनेक स्थलों पर प्रयुक्त हुए हैं। क्रियायों को व्यक्त करने वाले भी अनेक द्वित्व प्रयोग में आये हैं जैसे हूलौ फूलो, दिखा दिखी, उसर उसारन, धौरि धूमरि आदि। जहाँ कहीं आवश्यक हुआ है कवि ने उर्दू शब्दों का निःसंकोच प्रयोग किया है जैसे—जुल्फ, गरूर, जुदी, करेजा, इसक, दरजा, दरवेसू, अंडर बेदरदी, महबूब, खूब दिलन, पीर, मसलहत, वसीयत आदि। कवि व्रजभाषा से असंपृक्त नही रहा है। व्रज के शब्द बहुलता से आये हैं। चूँकि यह काव्य भक्ति भावना का समावेश किये हुए है। अतः कोमल कान्त पदावली का इसमें विशेष प्रयोग हुआ है। अधिकांश शब्द और मुहावरे स्त्रियों के बोल-चाल के हैं। इससे रचना में विशेष लालित्य और लोकधर्मिता का रम्य विधान अनायास ही हो गया है।

भाषा की सहजता के साथ सुमधुरता और सरसता बरकरार रखना बखशीजी की निजी विशेषता है। रीतियुग की उस शाब्दिक पच्चीकारी और पांडित्य प्रदर्शन की प्रवृत्तियों से बिना प्रभावित हुए उन्होंने जिस निष्ठा से भाषा के स्वाभाविक स्वरूप को संरक्षा दी वह सचमुच स्तुत्य है।

बख्शी हंसराज ने अलंकारों का प्रयोग भी भावोत्कर्ष के लिए किया है—चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति उनमें कहीं भी दृष्टिगत नहीं होती। यद्यपि भक्तिकाल के सिद्ध-समर्थ कवियों में भी कुछेक स्थलों पर अलंकार-प्रयोग में चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति दीख पड़ती है, परन्तु बख्शी जी में ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अतिशयोक्ति अलंकारों का बहुल प्रयोग उनमें मिलता है पर सर्वत्र है वह भाव के उत्कर्ष के लिए ही। उत्प्रेक्षा अलंकार के रम्य और उपयुक्त विधान का एक ही उदाहरण देना पर्याप्त होगा—

चारों ओर सखी मुख केरौ सोभा बरनि कहौ रे।
मनौ कलानिधि सरद समय के भए आइ इक ठौरे॥

इसी प्रकार सांगरूपक अलंकार के सुष्ठ और सार्थक प्रयोग के एक-दो उदाहरण देना पर्याप्त होगा—

छायौ सुभ करमन कौ मड़वा जामुन इछया डारी।
आस पास लै विधि के बाँधे बन्धन वार समारी॥
पाँचन पंच इंद्रियन जुरकै धीरज खंभ गड़ायौ।
काम कलस आनंद नीर भर चितकौ चौक पुरायौ॥

× × ×

कर टाटी घूंघट पट केरी चितवन चैंपु लगावै।
नैन उगैन कटाछ फंदा द्रग फंदन से उरझावै॥

वस्तूत्प्रेक्षा के द्वारा कवि ने कृष्ण की शोभा का चाक्षुष बिम्ब बड़ी सफलता से उकेर दिया है—

अति अनूप ब्रज भूषन को तनु प्रीति बसन फहराई ।
मानो चपला सघन घनन में चमक चमकि छिप जाई ।।

छन्द-विधान की दृष्टि से बख्शी जी की 'सनेह सागर' रचना सुष्ठ और सफल है । छन्द विधान की रम्यता ने उसके कथ्य को कोमल और श्रुतिपेशल बनाया है । उसके काव्य में प्रत्येक छन्द अपनी मृदु मंथर गति से माधुर्य और कोमलता का संचार करने में समर्थ हुआ है । कवि में अनेक छन्दों के प्रयोग का मोह नहीं है । प्रस्तुत ग्रन्थ में दो प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है । प्रारम्भ से नवम तरंग तक एक ही छन्द का विधान है । अन्तिम दो तरंगों में दोहा-चौपाई छन्दों का प्रयोग हुआ है । मूलग्रन्थ नवम तरंग तक ही है । इसमें प्रयुक्त छन्द भानुकृत 'छन्द प्रभाकर' के अनुसार 'सार' छन्द माना जायेगा, जिसका लक्षण भानु जी ने निम्नलिखित रूप में दिया है—

सोरह रविकल अंतै कर्णा, सार छन्द अति नीकौ ।
चरित कहिय कछु बालकृष्ण अरु, सुधर राधिकाजी कौ ।।
धनि वृन्दावन धनि बंशीवट, धनि सब गोपी ग्वाला ।
धनि जमुना तट जहाँ मुदित मन, रास कियो नन्दलाला ।।

इस लक्षण के अनुसार सोलह और बारह मात्रा के विराम से अन्त में कर्ण-मधुर दो गुरु होने पर २८ मात्राओं का यह "सार" छन्द है । भानुजी के अनुसार अन्त में दो गुरु का नियम आवश्यक नहीं है । १६ और १२ मात्रा के विराम के साथ दो गुरु के विकल्प में उन्होंने अन्त में एक गुरु और दो लघु को भी स्वीकार किया है । इसके उदाहरण निम्नलिखित पंक्तियों में देखे जा सकते हैं—

सादर सुनिये सादर गुनिये मधुर कथा रघुवर की (गुरु अन्त में)
सार यही न जन्म लहे को हरि पद प्रीति निरन्तर
(अन्त में दो लघु)

'सनेह सागर' के अन्त में एक गुरु और दो गुरु तथा दो लघु के उदाहरण मिलते हैं । उदाहरण के लिए निम्नलिखित छन्द देखे जा सकते हैं—

कमल बदन अलि अबली जनु चोवा चुपकी अलकैं ।।
(अन्त में लघु और गुरु)
अच्छत सहित बिन्दुका सोहत मानो षति रजनी कौ ।।
(अन्त में गुरु-गुरु)
सरद कमल लोचन दुख मोचन रसिक राई नट नागर
(अन्त में लघु-लघु)

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि बखशीजी का काव्य रीतिकालीन कला की चकाचौंध में भी भक्तिकालीन कविता जैसी माधुरी प्रस्तुत करने वाला है । भले ही उनका काव्य सूर या तुलसी जैसी भक्ति-मंदाकिनी प्रवाहित न कर सके परन्तु स्नेह की कालिन्दी प्रवाहित करने में तो सक्षम है ही ।

संकलन

□

- रसखान
- घनानंद
- ठाकुर
- बोधा
- बख्शी हंसराज

रसखान

[१]

प्रेम प्रेम सब कोउ कहै, प्रेम न जानत कोय।
जो जन जानै प्रेम तो, मरे जगत क्यों रोय।।
प्रेम-बारुनी छानि कै, बरुन भए जलधीस।
प्रेमहिं तें विष पानि करि, पूजे जात गिरीस।।
कमल-तंतु सों छीन अरु. कठिन खड़ग की धार।
अति सूधो टेढ़ो बहुरि, प्रेम पंथ अनिवार।।
श्रुति पुरान आगम स्मृतिहि प्रेम सबहिं को सार।
प्रेम बिना नाहिं उपज हिय, प्रेम-बीज अंकुवार।।
इक अंगी बिनु कारनहिं, इकरंस सदा समान।
गनै प्रियहि सर्वस्व जो, सोई प्रेम प्रमान।।

[२]

कहा रसखानि सुख संपति सुमार कहा
कहा तन जोगी ह्वै लगाए अंग छार को।
कहा साधे पंचानल कहा सोए बीच नल
कहा जीत लाए राज सिंधु आर पार को।
जप बार बार तप संजम बयार व्रत
तीरथ हजार अरे बूझत लबार को।
कीन्हों नहा प्यार नहीं सेयो दरबार चित्त
चाह्यो न निहारो जो पै नंद के कुमार को।।

[३]

बैन वही उनको गुन गाइ औ कान वही उन बन सों सानी।
हाथ वही उन गात सरै अरु पाइ वही ज वही अनुजानी।
जान वही उन प्रान के संग औ मान वही जु करै मनमानी।
त्यों रसखानि वही रसखानि जु है रसखानि सो है रसखानी।।

[४]

मोर के चन्दन मौर बन्यौ दिन दूल्ह है अली नंद को नंदन।
श्री वृषभानसुता दूलही दिन जोरि बनी बिधना सुखकंदन।
आवै कह्यौ न कछू रसखानि ही दोऊ बंधे छबि प्रेम के फंदन।
जाहि बिलोकें सबै सुख पावत ये ब्रजजीवन हैं दुख दंदन।।

[५]

मन मनोहर ही दुख दंदन है सुख कंदन नन्द को नंदा।
बंक बिलोचन की अवलोकनि है दुख योजन प्रेम को फंदा।
जा को लखें मुख रूप अनूपम होत पराजय कोटिक चंदा।
हौं रसखानि बिकाइ गई उन मोल लई सजनी सुख-कंदा।।

[६]

बंक बिलोचन हैं दुख-मोचन दीरघ रोचन रंग भरे हैं।
घूमत बारुनी पान कियें जिमि झूमत आनन रूप धरे हैं।
गंडन पै झलकै छबि कुंडल नागरि नैन बिलोकि भरे हैं।
बालनि के रसखानि हरे मन ईषद हास के पानि परे हैं।।

[७]

भौंह भरी बरुनी सुथरी अतिसै अधरानि रंगी रंग रातौ।
कुंडल लोल कपोल महाछबि कुंजनि तें निकस्यो मुसिकातौ।
रसखानि लखै मग छूटि गयो डग भूल गई तन की सुधि सातौ।
फूटि गयो दधि को सिरभाजन टूटिगो नैननि लाज का नातौ।।

[८]

सोहत है चंदवा सिर मौर के जैसियै सुन्दर पाग कसी है।
तैसियै गोरज भाल बिराजति जैसी हियै बनमाल लसी है।
रसखानि बिलोकत बौरी भई दृग मूँदि कै ग्वाल पुकारि हँसी है।
खोलि री नैननि खोलौं कहा वह मूरति नैनन माँझ बसी है।।

[९]

मैन मनोहर बैन बजै सु सजे तन सोहत पीत पटा है।
यों दमकै चमकै झमकै दुति दामिनि की मनो स्याम छटा है।
ए सजनी ब्रजराज कुमार अटा चढ़ि फेरत लाल बटा है।
रसखानि महामधरी मुख की मुसकानि करै कुलकानि कटा है।।

[१०]

कौन को लाल सलोनो सखी वह जाकी बड़ी अँखियाँ अनियारी।
जोहन बंक बिसाल के बाननि बेधत हैं घट तीछन भारी।
रसखानि सम्हारि परै नहि चोट सु कोटि उपाय करौं सुखकारी।
भाल लिख्यो बिधि हेत को बंधन खोलि सकै अस को हितकारी ॥

[११]

मंजु मनोहर मूरि लखै तबहीं सबहीं पतहीं तज दीनी।
प्रान पखेरू तऊ तलफै वह रूप के जाल में आस अधीनी।
आँख सों आँख लड़ी जबही तब सें ये रहैं असुंवा रंगभीनी।
या रसखानि अधीन भई सब गोप लली तजि लाज नवीनी ॥

[१२]

आली पगे ज रंगे रंग संबल सोहैं न आवत लालची नैना।
धावत हैं उतही जित मोहन रोके रुकैं नहि घूँघट ऐना।
कानन कौं कल नाहि परै सखी प्रेम सों भीजे सुनै बिन बैना।
भई मधु की मखियाँ रसखानि जू नेह को बंधन क्यों हूँ छुटै ना ॥

[१३]

मोरपखा मुरली बनमाल लख्यौ हिय में हियरा उमह्यौ री।
ता दिन तें इन बैरनि कों कहि कौन न बोल कुबोल सह्यौ री।
तौ रसखानि सनेह लग्यौ कोउ एक कह्यौ कोउ लाख कह्यौ री।
और तो रंग रह्यो न रह्यो इक रंग रंगीले सों रंग रह्यौ री॥

[१४]

खंजन नैन फंदे पिंजरा छबि नाहि रहैं थिर कैसे हुँ भाई।
छूटि गई कुलकानि सखो रसखानि लखी मुसकानि सुहाई।
चित्र कढ़े से रहे मेरे नैन न बैन कढ़ मुख दीनी दुहाई।
कैसी करौं कित जाऊं अली सब बोलि उठैं यह बावरी आई ॥

[१५]

मोर-पखा सिर ऊपर राखिहौं गुंज की माल गरें पहिरौंगी।
ओढ़ि पितम्बर लै लकुटी बन गोधन ग्वारनि संग फिरौंगी।
भाव तो वोहि मेरो रसखानिसो तेरे कहें सब स्वांग करौंगी।
या मुरली मुरलीधर की अधरान धरी अधरा न धरौंगी ॥

घनानन्द

[१६]

ज्यौं बुधि सों सुघराई रचें कोऊ सारदा कौं कविताई सिखावै ।
मूरतिवन्त महालक्षमी-उर पोत-हरा रचि लै पहिरावै ।
रागवध-चित चोरन के हित सोधि सुधारि कै तानहिं गावै ।
यौ हो सुजान तियैं घनआनन्द मो जिय बौरई-रीति रिझावै ।।

[१७]

अति सूधो सनेह को मारग है जहं नैकु सयानप बाँक नहीं ।
तहँ साँचे चलै तजि आपुनपौ झिझकै कपटी ते निसांक नहीं ।
घनआनंद प्यारे सुजान सुनौ इत एक ते दूसरो आँक नहीं ।
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हो लला मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं ।।

[१८]

नेह सों भोय सँजोय धरी हिय-दीप दसा जु भरी अति आरतिं ।
रूप उज्यारे अजू ब्रजमोहन सौंहनि आवनि ओर निहारति ।
रावरी आरति बावरी लौं घनआनंद भूलि वियोग निवारति ।
भावना-थार हुलास के हाथनि यों हित मूरति हेरि उतारति ।।

[१९]

चारु चामीकर चंद चपला चंपक चोखी,
केसरि चटक कौन लेख लेखियत है ।
उपमा बिचारी न बिचारी जाहि जान प्यारी,
रूप की निकाई औरे अवरेखियत है ।
सरस सनेह सानी राजति खाँनी दसा,
तरुनाई तेज अरुनाई पेखियत है ।
मंडित अखंड घनआनंद उजास लिये,
तेरे तन दीपति दिवारी देखियत है ।।

[२०]

रावरो रूप की रीति अनूप नयो-नयो लागत ज्यौं-ज्यौं निहारियै।
त्यौं इन आँखिन बानि अनोखी अघानि कहूं नहिं आन तिहारियै।
एक ही जीव हुतौ सु तौ वार्‌यो सुजान संकोच औ सोच सहारियै।
रोकी रहै न, दहै घनआनन्द बावरी रीझ के हाथनि हारियै॥

[२१]

भावते के रस-रूपहि सोधि लै नीकें भरयौ उर के कजरौटी।
रोमहि रोम सुजान बिराजत सोचि तचै मति की मति औटी।
प्रेम बली न करै सू कहा घनआनन्द नेम-गली गति लौटी।
मीत-मराल-सरोवर तो मन, तैं पिय को हिय कीनौ कसौटी॥

[२२]

चोप चाह चावनि चकोर भयौ चाहत ही,
सुषमा-प्रकास मुख-सुधाधर पूरे को।
कहा कहौं कौन-कौन विधि की बंधनि बंध्यौ,
सुकस्यौ न उकस्यौ बनाव लखि जूरे को।
जाही जाही अंग पर्‌यौ ता ी रंग संग रंग्यौ,
हर्‌यौ बल बापुरे अनंग दल-चूरे को।
अब बिन देखें जान प्यारे यौं अनंदघन,
मेरो मन भयौ भट पात ह्वै बघूरे को॥

[२३]

लगियै रहै लालसा देखन की किहि भाँति भटू निस द्यौस कटै।
करि भीर भरी यह पीर महा बिरहा तनकौ हिय तैं न हटै।
घनआनन्द-जान सँजोग-समै, बिसमै बुधि एकहि बेर बटै।
सपनौ सो टरै फिरि सौगुनौ चेटक बाढ़त डाढ़त घोटि घटै॥

[२४]

अन्तर उदेग-दाह आँखिन प्रबाह आँसू,
देखी अटपटी चाह भीजनि दहनि है।
सोइबौ न जागिबौ हू, हँसिबौ न रोइबौ हू,
खोय खोय आपही मैं चेटक लहनि है।

जान प्यारे प्राननि बसत पै अनन्दघन,
बिरह-विषम-दसा मूक लौं कहनि है।
जीवन मरन, जीव मीच बिना बन्यौ आय,
हाय कौन बिधि रची नेही की रहनि है ॥

[२५]

पूरन प्रेम को मंत्र महा पन, जा मधि सोधि सुधारि है लेख्यौ।
ताही के चारु चरित्र विचित्रनि यौं पचि कै रचि राखि बिसेख्यौ ॥
ऐसो हियो-हित-पत्र पवित्र जु आन कथा न कहूं अवरेख्यौ।
सो घनआनन्द जान अजान लौं टूक कियौ परि बाँचि न देख्यौ ॥

[२६]

चाह-बढ़्यौ चित-चाक चढ़्यौ सो फिरै तित ही इत नेकु न धीजै।
नैन थके छबि-पान छकै घनआनंद लाज त्यौं रीझनि भीजै।
मोह में आवरी ह्वै बुधि बावरी सीख सुनै न दसा दुख छीजै।
देह दहे न रहै सुधि गेह की भूलि हू नेह को नाँव न लीजै ॥

[२७]

हाय बिमासी सनेह सों रूखे रुखाई सों ह्वै चिकने अति सोहौ।
आपुनपौ अरु आप हुतें करि हाते हतौ घनआनंद कोहौ।
कौन घरी बिछुरे हौ सुजान जु एक घरी मन तें न बिछोहौ।
मोह की बात तिहारी असूझ पै मो हिय कों तौं अमोहियौ मोहौ ॥

[२८]

हीन भएँ जल मीन अधीन कहा कछु मो अकुलानि समानै।
नीर सनेही कों लाय कलंक निरास ह्वै कायर त्यागत प्रानै।
प्रीति की रीति सु क्यौं समझै जड़, मीत के पानि परै को प्रमानै।
या मन की जु दसा घनआनंद जीव की जीवन जान ही जानै ॥

[२९]

एक आस एकै बिसवास प्रान गहैं बास,
और पहिचानि इन्हैं रही कहू सौं न है।
चातक लौं चाहै घनआनन्द तिहारी ओर,
आठौ जाम नाम लै बिसारि दीनौ मौन है।

जीवन-आधार प्रान सुनियै पुकार नेकु,
आनाकानी दैबौ दैया घाय कैसो लौन है।
नेह-निधि प्यारे गुन-भारे ह्वै न रूखे हूजैं,
ऐसो तुम करौ तौ बिचारन कौं कौन है।।

[३०]

राति द्यौस कटक सजे ही रहै दहै दुख,
कहा कहौं गति या बियोग बजमारे की।
लियो घेरि औचक अकेलो के बिचारो जीव,
कछू न बसाति यौं उपाय-बल-हारे की।
जान प्यारे लागौ न गुहार तौ जुहार करि,
ज़ूझिहै निकसि टेक गहें पनधारे की।
हेत-खेत-घूरि चूरि-चूरि ह्वै मिलैगो तब,
चलैगी कहानी घनआनन्द तिहारे की।।

ठाकुर

[३१]

यह प्रेमकथा कहिबे की नहीं कहबोई करौबो कोउ मानत है ।
पुनि ऊपरी धीर धरायो चहै तन रोग नहीं पहचानत है ।
कहि ठाकुर जाहि लगी कसकै नहि सो कसकै उर आनत है ।
बिन आपने पाये बिवाई भए कोऊ पीर पराई न जानत है ।।

[३२]

प्रानन प्रेम की गाँस नहीं नहिं कानन बाँसुरी को सुर छायो ।
बैनन सों न जप्यो नंदनन्दन नैनन न ब्रजचंद लखायो ।
ठाकुर हाथ न माल लई नहीं पाइन सों हरि मंदिर धायो ।
नेक कियो न सनेह गोपाल सों देह धरे को कहा फल पायो ।।

[३३]

कौन गुनाह परो हम सो अब लों घनश्याम निहोरितु है ।
जो अपनी हितकारी महा तिन सौ कहूँ डीठि मरोरितु है ।
ठाकुर आप सयाने बड़े मन मानिक पाय न कोरितु है ।
प्रीति की रीति सुनो हम पै करि प्रीति नहीं फिर तोरितु है ।।

[३४]

कानन दूसरो नाम सुनै नहीं एक ही रंग रंग्यो यह डोरो ।
धोखेहु दूसरो नाम कढ़ै रसना मुख काढ़ि हलाहल बोरो ।
ठाकुर चित्त की वृत्ति यही हम कैसे हूँ टेक तजै नहीं भोरो ।
बावरी वे आँखियाँ जरि जाँहि जो साँवरो छाँडि निहारती गोरो ।।

[३५]

जब तै दरस मनमोहन जू तब तै आँखियाँ ये लगीं सो लगीं ।
कुलकानि गई भगि वाही घरी ब्रजराज के प्रेम पगी सो पगीं ।

कवि ठाकुर नेह के नेजन की, उर मैं अनी आन खगीं सो खगीं ।
अब गाँव रे नाँव रे कोई धरौ, हम सांवरे रंग रंगीं सो रंगीं ।।

[३६]

अपने अपने निज गेहन में चढ़े दोऊ सनेह की नाँव पै री ।
अँगनान में भीजत प्रेम भरे समधौ लखि में बलि जाँव पै री ।
कह ठाकुर दोउन की रुचि सों रंग ह्वै उमड़े दोउ ठाँव पै री ।
सखी कारी घटा बरसै बरसाने पै गोरी घटा नन्द गाँव पै री ।।

[३७]

भूलि न प्रीति करौं तुमसौं कबहुँ नहिं नैन सों नैन मिलाऊँ ।
बात करौं न सुनौं तुम्हरी अपने चित्त की कबहूँ न चिताऊँ ।
मोहि कहा परी प्यारे गोपाल जू लाज मरौं कुल कानि घटाऊँ ।
ना विष खाऊँ न प्रान तजौं गुर खाऊँ न काहू सो कान छिदाऊँ ।।

[३८]

रोज न आइयै जौ मनमोहन तौ यह नेक मतो सुन लीजिये ।
प्रान हमारे तुम्हारे अधीन तुम्है बिन देखै सु कैसे कै जीजिये ।
ठाकुर लालन प्यारे सुनौ विनती इतनी पै अहो चित दीजिये ।
दूसरे तीसरे पाचयें सातयें आठयें तो भला आइबो कीजिये ।।

[३९]

यो तरसाइबो कौने बदो मन तो मिलिगो पै मिलै जल जैसो ।
कौन दुराव रहो उनसों, जिनके संग साथ करौ सुख ऐसो ।
ठाकुर या निरधार सुनौ, तुम्है कौन सुभाव परो है अनैसो ।
प्राणप्रिया घट में बसिकै हँसिकै फिरि घूँघट घालिबो कैसो ।।

[४०]

हौं करि हौं हित फूलौ फिरै मन जानत नाहीं अजान है येतौ ।
या पंथ पाँव धरैं पहचान अरै इहमैं दुख औ सुख केतौ ।
ठाकुर जो या कथा सुनि पावतो तो सुनिबे कँह कान न देतौ ।
जानतौ जौ इतनी परतीत तौ प्रीति की रीति कौ नाम न लेतौ ।।

[४१]

एक ही सों चित्त चाहिये ओर लों बीच दगा कौ परै नहिं डाको ।
मानिक सो मन बेचि के मोहन फेर कहा परखाइबो ताको ।
ठाकुर काम न या सबको अब लाखन में परवान है जाको ।
प्रीति करै में लगै है कहा करिकै इह ओर निबाहिबो बाको ॥

[४२]

बरुनीन मैं नैन झुकै उझकै मनो खंजन प्रेम के जाले परे ।
दिन औधि के कैसे गनौं सजनी अँगुरीन के पोरन छाले परे ।
कवि ठाकुर ऐसी कहा कहिये निज प्रीति करे के कसाले परे ।
जिन लालन चाह करी इतनी तिन्है देखिबे के अब लाले परे ॥

[४३]

गति मेरी यही निसबासर है चित तेरी गलीन के गाहनो है ।
चित कीन्हों कठोर कहा इतनो अरी तोहि नहीं यह चाहनो है ।
कह ठाकुर नेक नहीं दरसों कपटीन को काह सराहनो है ।
मन भावै सुजान सोई करियो हमैं नेह को नातो निबाहनो है ॥

[४४]

लगी अंतर मैं करैं बाहिर को बिन जाहिर कोउ न मानतु है ।
दुख औ सुख हानि औ लाभ सबै घर की कोउ बाहर मानतु है ।
कवि ठाकुर आपनी चातुरी सों सबही सब भाँत बखानतु है ।
पर बीर मिले बिछुरे की बिथा मिलिकै बिछुरै सोइ जानतु है ॥

[४५]

मोतिन कैसी मनोहर माल गुहै तुक अच्छर जोरि बनावै ।
प्रेम को पंथ कथा हरिनाम का बात अनूठी बनाइ सुनावै ।
ठाकुर सो कवि भावत मोहि जो राजसभा में बड़प्पन पावै ।
पंडित लोक प्रवीनन को जोइ चित्त हरै सो कवित्त कहावै ॥

बोधा

[४६]

अति छीन मृनाल के तारहु तें, तेहि ऊपर पाँव दै आवनो है ।
सुई वेह ते द्वार सकी न तहाँ, परतीत को टांड़ो लदावनो है ।
कवि बोधा अनी घनी ने जहूँ ते, चढ़ि तापै न चित्त डगावनी है ।
यह प्रेम को पन्थ कराल महा, तरवार की धार पै धावनो है ।।

[४७]

यह प्रेम को पन्थ हलाहल है, सु तो वेद पुरानउँ गावत हैं ।।
पुनि आँखिन देखौ सरोजन लै, नर संभु के सीस चढ़ावत हैं ।।
बरही पर माथे चढ़ै हरि के, फल जोग ते ऐते न पावत हैं ।
तुम्है नीकी लगै ना लगै तो भलै हम जान अजान जनावत हैं ।।

[४८]

लोक की लाज औ सोच प्रलोक को, वारिये प्रीति के ऊपर दोऊ ।
गाँव को गेह को देह को नातो, सनेह में हांतो करै पुनि सोऊ ।
बोधा सुनीति निबाह करै घर, ऊपर जाके नहीं सिर होऊ ।
लोक की भीत डेरात जो भीत, तौ प्रीति के पैड़े परे जनि कोऊ ।।

[४९]

कोटिक देखि फिरौं छबि मैं, पै न कोऊ छबै सम वा छबि जूझै ।
आँखिन देखी जो बान तिन्है बिन, आँखिन सो नो जुवाँ हय बूझै ।
बोधा सुभान को आनन छोड़ि, न आनन मो मन आनि अरुझै ।
जैसे भये लखि सावन के अंधरे, नर को सु हरौ हरौ सूझै ।।

[५०]

हार में प्यारो खरो कब को, लखती हियरे सों लगाइ न लीजै ।
तू तौं सयानी अनोखीकरी, अब फेरिकै ऐसी न चित्त धरीजै ।

बोधा सोहाग औ सोभा सबै, उड़ि जैबे के पन्थ पै पाव न दीजै ॥
मानि ले मेरी कही तू लली, अहे नाह के नेह मथाह न कीजै ॥

[५१]

बिन स्वाद पुरानी लता सियरी, तिनहूँ मैं कछू गुन ज्ञान न तो ।
लखि केतकी और नेवारी जुही, मनमानै न सेवती बीच रतो ।
कवि बोधा न प्रापति आदर को, दरकार करी करि थेक मतो ।
यहि आसरे या बगिया बिलम्यौ, वा चमेली नवेली सों नेह हतो ॥

[५२]

सेवती जासो जुही कचनार अनार करील कनैर निहारो ।
पाँड़र मौर शिरी मचकुन्द कदम्ब लौं बोधा लखो फुलवारी ।
केतकी केवरो कुन्द नेवारि सो देखि लता यह चाड़ निवारी ।
मालती एक बिना भ्रमरी इतै कोऊ न जानत पीर हमारी ॥

[५३]

मुख बोलै न हरै हसै न लसै न धसै दरवाने बसै पलहूँ ।
रजा तेरी सुभान सुभान तुही यौं कहै न कहै कछू भीख चहूँ ।
उर याके लगी सुन कोऊ लखै कहने को नहीं सहने वरहूँ ।
मन जोगिया प्रेम वियोग धरे भंवरी दै फिरै न थिरै कबहूँ ॥

[५४]

बात नहीं समुझावै सबै यह पीर हमार न जानत कोई ।
का करै लैके सिखावन को जिय जाहि को आपनै हाथ न होई ।
बोधा कदाचित जानै वहै वहि कै जिय में जिन बेदन बोई ।
जाते मिटै यह पीर सरीर की है वह मूरि सजीवनि सोई ॥

[५५]

निसि वासर नींद औ भूख नहीं, जब तें हिय में यह आनि बसी ।
मिलतै न बनै जग की भय ते, बरजी न रहै हिय की हुलसी ।
कवि बोधा सुनै हे सुभान हितू, उर अंतर प्रेम की गाँस गसी ।
तिनको कल कैसे परै निरदै जिनकी परैहै कुसाँगरै आँख कसी ॥

[५६]

एक सुभान के आनन पै कुरबान जहाँ लगि रूप जहाँ को ।
कैयो सत ऋतु की पदवी लुटियै तकि कै मुसकाहट ताको ।
सोक जरा गुजरा न जहाँ कवि बोधा जहाँ उजरान तहाँ को ।
जान मिलै तौ जहान मिलै नहिं जान मिलै तो जहान कहाँ को ।।

[५७]

रितु पावस स्याम घटा उनई लखि कै मन धीर धिरातो नहीं ।
पुनि दादुर मोर पपीहन की सुनि कै धुनि धीर चित्त थिरातो नहीं ।
जब ते बिछुरै कबि बोधा हितू तब ते उर दाह सिरातो नहीं ।
हम कौन सों पीर कहैं अपनी दिलदार तौ कोऊ दिखातो नहीं ।।

[५८]

कारी घटा दिसि दक्षिन देखि भयो सु चहै हियरा जरि कारो ।
ताही घरी घहराइ वही गिरिगो भुव पै लगि प्रेम तमारो ।
केतन आइ लगाइ थकी कवि बोधा हकीमन को उपचारो ।
पै न धरै वह धीर अली न मिलै वह पीर के जानन हारो ।।

[५९]

दूर है सूरि अपूरब सो ससि सूरजहू कबहूँक निहारी ।
आदर बेली नबेली अबै कहु कैसे मिल बर जोग दिवारी ।
बोधा सुनै हे सुभान हितू करि कोटि उपाइ थके उपचारी ।
पीर हमारी दिलन्दर की हम जानत हैं वह जाननहारी ।।

[६०]

दहिये विरहानल दाहन सों, निज पापन तापन को सहिये ।
चहियै सुख तोलों रहे दुख कै, हम वारियै बोधन कै चहिये ।
कवि बोधा इते पै हितू न मिलै, मन ही मन मैं पचै रहिये ।
गहिये मुख मौन भई सो भई, अपनी करि काहू सों का कहिये ।।

[६१]

कहिबे को व्यथा सुनिबे को हँसी, को दया सुनि कै उर आनतु है ।
अरू पीर घटै तजि धीर सखी दुख को नहीं कापै बखानतु है ।
कवि बोधा कहै ये संवाद कहा को हमारी कही पुनि मानतु है ।
हमै पूरी लगी कै अधूरी लगी यह जीव हमारोई जानतु है ।।

बख्शी हंसराज

[६२]

कठिन पंथ है परम प्रेम को ज्यों सूरा पगु धारै ।
जो कहूँ चित चलो इत उत तो प्रकृति पुरी लै डारै ।।
दिल दरियाव उमडि उर अन्तर लहरैं उठत घनेरी ।
बूड़ी बही फिरत बुधि जामें नाहिन जात उबेरी ।।

[६३]

जो लीला सखियन संग बिहरत धाम अखंड बिलासी ।
सो वह लीला अगम अगोचर ब्रज में आन प्रकासी ।।
अति आनन्द की उठती लहरैं जाको वार न पारू ।
सोई कहिजतु पर प्रैम सौ राधा कृस्न बिहारू ।।

[६४]

लोचन ललित प्रीति रस पागे पुतरिन स्याम निहारे ।
मनहु कमल बिसद पेंह बैठे उड़त न अलि मतिवारे ।।
चुभत चाल चंचल नैनन की चितवन अति अनियारी ।
अति सनेह मय प्रेम सरस लखि कौ न होत मतवारी ।।

[६५]

नाक सुवा सारी कान्हर की सुन्दरता की सीवाँ ।
ता मधि नथुनी मौती झलकैं सुक्र सहित बुध जीवा ।।
वर बँधूक अधर दल मानौ देत चुनी दुतिवारी ।
मंद मंद मुस्क्यान माधुरी चित तै टरत न टारी ।।

[६६]

आवत जात बिपिन तै बरनत दैखे सामल गाता ।
परम प्रेम कौ बिरवा हिय मैं हुलस भयौ दो पाता ।।
सेवत तिहि सनेह सागर सौ भर भर लोचन वागी ।
दिन दिन बढ़त होत उह उहौ छुवत न विरह दमारी ।।

[६७]

श्री ब्रषभान लाड़ली लालन सखियन सहित सुहाए ।
करत ललित लीला निसवासर प्रेम प्रीति रस छाए ॥
आई अति सुन्दर सुखदाई सब्र कह फागु सुहाई ।
बाढ़ौ अति अनुराग परसपर, आनंद उर न समाई ॥

[६८]

अति अनूप ब्रज भूषण कौ तनु प्रीति बसन फहराई ।
मानौ चपला सघन घनन मै चमक चमकि छिप जाई ॥
कोटि काम अभिराम स्याम तन धारे भेष त्रिभंगी ।
हलधर सहित बेग चल आए और ग्वाल सब संगी ॥

[६९]

अति सुंदर जोरिन को ढेरी बाँटि सखन कौ दीनी ।
हरषत हिय हलधर हरि हँसि कै अपने कर मै लीनी ॥
कंचन मनि मानिक हीरन जड़ि पिचकारी बनवाई ।
केसर नीर भराइ तुरत ही सबके हाथ गहाई ॥

[७०]

छूटत मुठी गुलाल गह गही रहत बदन लपटाई ।
फूले लख रवि लाल कमल मुखाकृत लाल कमल मनु आई ॥
फले लखि रवि लाल कमल मुखराजन मुख अरविन्दू ।
छिपों सरद घन माहि विराजत मनहुँ सपूरन चन्दू ॥

[७१]

भ्रकुटी धनुष नैन सर साधै तकि कि दुहुँ दिसि चलई ।
मनकई के बिंधन हिये मै विषम साल से सालैई ॥
अति पैनी म्रग नैनी चितवन चली प्रीत तरवारै ।
काँटे छेद होत दोऊ मिलि फेर एक कर डारै ॥

[७२]

घालै नैन कोर के भाले सालै तन मन माहीं ।
बाढ़ी प्रेम अपार परसपर इत उत मुरकत नाहीं ॥

अति तीछन तिरछी चितवन के चले दु सदिनेहेजं ।
भयौ समर ःघूमे घाइल से बेधे किरच करेजे ।।

[७३]

इनकौ उन उनकौ इन भर भरु नैन कमनिया तानी ।
अनियारी अंखियन की गासी उर-अंतर उरझानी ।।
अति पैनी तिरछी चितवन की इत उत चली कटारी ।
कैसहु लाल टरत नहिं टारे टरत बाल नहिं टारी ।।

[७४]

हिलमिल गौर स्याम तन सोभित उपमा कौन विचारौ ।
कोटि कोटि घन दामिति रबि ससिया छबि ऊपर बारौ ।।
कस कस भौंह ग्वालिनी हँस हँस प्रेम प्रीति अनुरागै ।
कानपकर कर कुँवर कान्ह के फिर फिर फगुवा माँगै ।।

[७५]

हम तुमरे तुम हमरे मन मै सुनियो चित्त दै राधै ।
कैसे कर छूटौं छल बल सौ प्रेम प्रीति के बाधे ।।
जैसे तन मन तुम दीनौ है तैसे हम रंग राते ।
कहै तुमारो हियौ हमारे हिय को सिगरी बातै

[७६]

सखियन सौ राधा जू कहती दीजै छोड़ कन्हैये ।
विबस भये रसबस ए वैठे अति हितु राखि पठैये ।।
ऐसे वचन सनत सब्र सखियन छोड़े कुँवर कन्हाई ।
बाढ़ौ अति अनुराग परसपर बरनन कियौ न जाई ।।